गायत्री के
चौदह रत्न
श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री के चौदह रत्न

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. : ०९९२७०८६२८९, ०९९२७०८६२८७

पुनरावृत्ति सन् २००८ मूल्य : ११.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि
मथुरा (उ. प्र.)

लेखक :
श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् २००८

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

भूमिका

वेदमाता गायत्री का अर्थ सीधा सा है। ॐ (ब्रह्म) भूः (प्राण) भुवः (दुःखनाशक) स्वः (सुखस्वरूप) तत् (उस) सवितुः (तेजस्वी) वरेण्यं (श्रेष्ठ) भर्गः (पापनाशक) देवस्य (दिव्य को) धीमहि (धारण करें) धियो (बुद्धि) यः (जो) नः (हमारी) प्रचोदयात् (प्रेरित करे)।

अर्थ—उस सुखस्वरूप, दुःखनाशक, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, प्राणस्वरूप ब्रह्म को हम धारण करते हैं, जो हमारी बुद्धि को (सन्मार्ग की ओर) प्रेरणा देता है।

इस अर्थ में ३ तथ्य सन्निहित हैं—(१) ईश्वरीय दिव्य गुणों का चिंतन, जिससे उन गुणों की अपनी मनोभूमि में वृद्धि हो। (२) ईश्वर को अपने अंदर धारण करना, जिससे आत्मा अपने को परमात्मा बना सके। (३) सद्बुद्धि की प्रेरणा के लिए प्रार्थना, जिससे कुसंस्कारों का नाश और ऋतंभरा प्रज्ञा का उत्थान हो। इन तीनों तत्त्वों में ज्ञान, कर्म, और उपासना की सारी विद्या छिपी हुई है।

गायत्री के २४ अक्षरों में धर्म, नीति, जीवन-कला एवं लोक व्यवहार की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा भरी हुई है। इस शिक्षा को भली प्रकार हृदयंगम कर लेने से वह उद्देश्य पूरा हो सकता है, जो वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि पढ़ने से होता है। धर्म ग्रंथों का उद्देश्य—मनुष्य के विचार, उद्देश्य, भाव, लक्ष एवं दृष्टिकोण को शुद्ध करना है जिससे उसकी शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ सतोगुणी एवं धर्म संगत होने लगें।

यही प्रक्रिया गायत्री के अक्षरों में छिपी हुई महान शिक्षाओं को अपनाने से हो सकती है। इसलिए गायत्री को वेद-शास्त्रों का निचोड़, तत्त्व कहा गया है। जैसे गिलोय का थोड़ा सा सत्व खाने से, बहुत बड़ी गिलोय चबाने का फल मिल जाता है वैसे ही गायत्री का मर्म अर्थ समझने से धर्म ग्रंथों का विशद् अध्ययन करने का लाभ मिल सकता है।

इन्हीं तथ्यों की गायत्री गीता में व्याख्या की गई है। प्रत्येक पद का अर्थ एक-एक श्लोक में बताया गया है। गायत्री गीता के १४ श्लोक समुचित १४ रत्न हैं। समुद्र मथने से अमृत, लक्ष्मी, कामधेनु आदि १४ रत्न निकले थे। धर्म-शास्त्रों का मंथन करके गायत्री गीता निकाली गई है। गायत्री गीता के १४ श्लोकों की विवेचना इस पुस्तक में की गई है।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

ॐ

ईश्वरीय सत्ता का तत्त्वज्ञान

ओमित्येव सुनामध्येयमनघं विश्वात्मनो ब्रह्मणः
सर्वेष्वेव हि तस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम्।
यं वेदा निगदन्ति न्यायनिरतं श्रीसच्चिदानन्दकम्
लोकेशं समदर्शिनं नियमिनं चाकारहीनं प्रभुम्॥

अर्थ—जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानंद, संसार का स्वामी, समदर्शी, नियामक और निराकार कहते हैं। जो विश्व की आत्मा है। उस ब्रह्म के समस्त नामों से श्रेष्ठ नाम, ध्यान करने योग्य 'ॐ' यह मुख्य नाम माना गया है।

गायत्री स्मृति के प्रथम श्लोक के अनुसार '**ॐ भूः भुवः स्वः**' का भावार्थ इस पुस्तक के आरंभ में (भूमिका में) दिया जा चुका है। गायत्री गीता में इन प्रणव और व्याहृतियों के चार पदों के लिए अलग-अलग चार श्लोक हैं। उन चारों की विवेचना अब इन पृष्ठों पर की जा रही है। इस प्रकार प्रणव और व्याहृतियों का दोहरा अर्थ जानने का सुअवसर पाठकों को प्राप्त होगा।

गायत्री मंत्र के आरंभ में 'ॐ' लगाया जाता है। 'ॐ' परमात्मा का प्रधान नाम है। ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा जाता है। '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' उस एक ही परमात्मा को ब्रह्मवेत्ता अनेक प्रकार से कहते हैं। विभिन्न भाषाओं और संप्रदायों में उसके अनेक नाम हैं। एक-एक भाषा में ईश्वर के पर्यायवाची अनेक नाम हैं, फिर भी वह एक ही है। इन नामों में ॐ को प्रधान इसलिए माना है कि प्रकृति की संचालक सूक्ष्म गतिविधियों को अपने योगबल से देखने वाले ऋषियों ने समाधि लगाकर देखा है कि प्रकृति के अंतराल में प्रतिक्षण एक ध्वनि उत्पन्न होती है, जो 'ॐ' शब्द से मिलती-जुलती है। सूक्ष्म

प्रकृति इस ईश्वरीय नाम का प्रतिक्षण जप और उद्घोष करती है। इसलिए यह अकृत्रिम, दैवी, स्वयं घोषित, ईश्वरीय नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

आस्तिकता का अर्थ है—सतोगुणी, दैवी, ईश्वरीय, पारमार्थिक भावनाओं को हृदयंगम करना। नास्तिकता का अर्थ है—तामसी, आसुरी, शैतानी, भोगवादी, स्वार्थपूर्ण वासनाओं में लिप्त रहना। यों तो ईश्वर भले-बुरे दोनों तत्त्वों में है, पर जिस ईश्वर की हम पूजा करते हैं, भजते हैं, ध्यान करते हैं, वह ईश्वर सतोगुणी का प्रतीक है, जैसे किसी सुविस्तृत राष्ट्र का प्रतीक एक राष्ट्र का ध्वज (झंडा) होता है। कोई विदेशी किसी देश के झंडे का मान या अपमान करे तो यह उस राष्ट्र का मान व अपमान समझा जाएगा जिसका कि वह झंडा है। इसी प्रकार मानव प्राणियों के अंतःकरण में निवास करने वाली व्यापक सात्त्विकता का प्रतीक वह ईश्वर है जिसकी हम पूजा करते हैं। ईश्वर की प्रतिष्ठा, पूजा, उपासना, प्रशंसा,उत्सव, समारोह, कथा, यात्रा, लीला आदि का तात्पर्य है—सतोगुण के प्रति अपना अनुराग प्रकट करना, उसको हृदयंगम करना, उसमें तन्मय होना। इस प्रक्रिया से हमारी मनोभूमि पवित्र होती है और हमारे विचार तथा कार्य ऐसे हो जाते हैं ज़ो हमारे व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में स्थायी सुख-शांति की सृष्टि करते हैं। ईश्वर उपासना का महाप्रसाद साधक की अंतरात्मा में सतोगुण की वृद्धि के रूप में, तत्क्षण मिलना आरंभ हो जाता है।

गायत्री गीता के उपरोक्त प्रथम श्लोक में ईश्वर की अन्य अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं। वह न्यायकारी, समदर्शी, नियामक तथा निराकार है। विश्व की आत्मा है। विश्व के समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से वह निवास करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अंतःकरण चतुष्टय विकृत हो जाने से अज्ञान और माया का, स्वार्थ और भोग का, मैल बढ़ जाने से अनेकों मनुष्य कुविचारों और कुकर्मों में ग्रस्त देखे जाते हैं, फिर भी उनका अंतरात्मा ईश्वर का अंश होने के कारण भीतर से उन्हें

सन्मार्ग पर चलने का आदेश देता रहता है। यदि उस अंतरात्मा की पुकार को सुना जाए, उसके संकेतों पर चला जाए तो बुरे से बुरा मनुष्य भी थोड़े समय में श्रेष्ठतम महात्मा बन सकता है। गीता में भगवान ने कहा है—"सब छोड़कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।" अंतरात्मा की, परमात्मा की शरण में जाने से आत्मसमर्पण करने से, दैवी प्रेरणाओं को हृदयंगम करने से मनुष्य ईश्वर का सच्चा भक्त बनता है। भक्त तो भगवान का प्रत्यक्ष रूप है।

चूँकि भगवान हर एक की आत्मा में निवास करता है इसलिए किसी भी व्यक्ति को मूलतः दुष्ट नहीं मानना चाहिए, न उससे द्वेष ही करना चाहिए। दुष्ट विचारों और कार्यों से ही हमारा द्वेष होना चाहिए। दुष्टता एक रोग है, रोग को मार भगाने और रोगी को जीवित रखने के लिए काफी प्रयत्न किया जाता है। ऐसा ही प्रयत्न दुष्टता को मिटाकर दुष्ट मनुष्य को सज्जन बनाने के लिए होना चाहिए। प्रयत्न करने पर बुराइयाँ दूर हो सकती हैं क्योंकि आत्मा का मूल स्वरूप दैवी है। उसमें ईश्वर का निवास है। फोड़ा चिरवाने की तरह दंड द्वारा भी सुधार किया जा सकता है, पर घृणा एवं द्वेष को किसी के लिए भी मन में स्थान नहीं देना चाहिए।

ईश्वर सर्वव्यापी है। इसलिए वह एकदेशीय नहीं हो सकता। वह परमात्मा अरूप है इसलिए निराकार है। फिर भी यह सब पसारा उसी का होने से, सबमें समाया होने से साकार है। किन्हीं महापुरुषों में उसकी विशेष शक्तियाँ, विशेष कलाएँ होती हैं तो उन्हें उतनी कलाओं का अवतार कहते हैं। परशुराम जी में तीन कलाएँ, राम में बारह कलाएँ, कृष्ण में सोलह कलाएँ बताई गई हैं। एक ही समय में कई अवतार कई महापुरुष हो सकते हैं। रामचंद्र जी और परशुराम जी एक ही समय में दो अवतार थे। गीता के अनुसार, जब अधर्म की वृद्धि होती है, तब धर्म की स्थापना के लिए अवतार होते हैं। वे अवतारी महापुरुष अकेले ही सब कुछ नहीं कर लेते वरन जनता को नवीन विचार एवं उत्साह देकर जाग्रत करते हैं और अनेक सहयोगियों की

सहायता से उस ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। कृष्ण द्वारा कौरवों का नाश, राम द्वारा राक्षसों का नाश, अकेले ही नहीं किया था वरन उनके विरुद्ध अपार जनसमूह लड़ा करके ही सफलता प्राप्त की गई थी। बुराइयों का निवारण एवं अच्छाइयों की स्थापना के लिए जहाँ भी कार्य होता है, ईश्वरीय प्रेरणा से ही होता है। अवतारी सत्पुरुष उसे पूरा करने में जुट जाते हैं और अंत में जन सहयोग से वह उद्देश्य पूरा होता है। ऐसी अवतारी प्रक्रिया छोटे-मोटे रूप में सदा होती रहती है और बड़े रूप में कभी-कभी विशेष आवश्यकता के समय होती है। अवतारी कार्यों में सहायता करना हनुमान-अर्जुन की तरह अपने को यश तथा प्रतिष्ठा का भागी बना लेना है।

परमात्मा खुशामद पसंद नहीं। किसी की निंदा-स्तुति की उसे आवश्यकता नहीं। वह किसी पर प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होता। पूजा-उपासना एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है, जिसके करने से हमारा आत्मबल बढ़ता है, सतोगुण की मात्रा में वृद्धि होती है। ईश्वर को सर्वव्यापक समझने वाला पापों से डरेगा। कोतवाल सामने खड़ा हो तो चोर प्रकृति का मनुष्य भी उस समय साधु-सा आचरण करता है। सबसे बड़े कोतवाल ईश्वर को जो अपने अंदर-बाहर चारों ओर व्यापक देखता है वह दंड से डरेगा और पाप न कर सकेगा। प्राणिमात्र में ईश्वर को व्यापक देखने वाला व्यक्ति सबके साथ सद्व्यवहार ही कर सकता है। यह ईश्वरीय दृष्टि प्राप्त करना, ईश्वर आराधना का प्रधान उद्देश्य है। ध्यान, प्रार्थना, पूजा, कीर्तन, जप आदि ऐसी मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ हैं, जिनके द्वारा मनोभूमि में चिपके हुए अनेकों कुसंस्कार छूटते और उनके स्थान पर सुसंस्कारों की स्थापना होती है। ईश्वर के नाम पर लोक हितकारी कामों के लिए दान देना अपनी ही व्यक्तिगत और सामूहिक सतोगुणी उन्नति करना है।

वह समदर्शी और न्यायकारी है। सभी पुत्र उसे परमप्रिय हैं और सभी समान हैं। निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह वह सबको उसके कर्मों के आधार पर फल देता है। अपने भले-बुरे कर्मों का परिपाक ही कालांतर

में प्रारब्ध, भाग्य, कर्मरेखा, ईश्वर की कृपा, दैवी वरदान, ग्रहदशा आदि के रूप में प्रकट होता है। कर्म चाहे आज का हो, चाहे पुराना, उसी का फल हमें मिलेगा। ईश्वर अपनी ओर से किसी के साथ विशेष क्रोध या प्रेम प्रकट नहीं करता। उसने सबको अत्यंत बहुमूल्य रथ— शरीर, अत्यंत विलक्षण अस्त्र—मस्तिष्क, संसार में उपस्थित अत्यंत सुखदायिनी वस्तुएँ देकर अपनी दयालुता का परिचय दिया है। यह हमारा काम है कि अपने भले-बुरे कर्मों द्वारा अपने जीवन को सुखी या दुखी चाहे जैसा बनाएँ। वह किसी की क्रियाशीलता में हस्तक्षेप नहीं करता, अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए सबको पूर्ण स्वतंत्र छोड़ दिया है। कर्मफल से कोई बच नहीं सकता, वह हर एक को अवश्य भुगतना पड़ता है। न्यायाधीश ईश्वर के न्याय से कोई भी बच नहीं सकता।

वह नियामक है। स्वयं नियम रूप है, उसका हर काम नियमपूर्वक हो रहा है। ग्रह-नक्षत्र एक क्षण भर आगे-पीछे उदय नहीं हो सकते। गेहूँ से गेहूँ ही उत्पन्न होता है, वस्तुएँ अपने-अपने गुण धारण किए रहती हैं। कभी-कभी जो अनियमितता दिखाई देती है, वह भी किन्हीं सूक्ष्म नियमों के आधार पर ही होती हैं। जो व्यक्ति ईश्वरीय नियमों पर चलते हैं, प्राकृतिक जीवन बिताते हैं, कर्त्तव्य धर्म में स्थिर रहते हैं, वह ईश्वर की आनंदमयी सृष्टि का आनंद आस्वादन करते हैं। जो उन नियमों का उल्लंघन करते हैं, वे हानि उठाते हैं। अग्नि बड़ी दयालु है। वह हमारा शीत-निवारण करती है, भोजन पकाती है,वाष्प-यंत्र चलाती है, अन्य अनेक प्रकार के लाभ पहुँचाती है, पर उसे नियम विरुद्ध छुआ जाए तो हाथ जला देगी। बिजली से हमें अनेकों लाभ होते हैं, पर उसे गलत तरह छुएँ तो प्राण लेने में कोई रियायत नहीं करेगी। इसी प्रकार ईश्वर हमें अनेक सुख देता है, पर यदि उसके नियमों का उल्लंघन करें तो वह नरक की भयंकर अग्नि में तपा डालने वाला क्रूर यमराज भी बन जाता है। उसके नियमों पर चलना ही सर्वोत्तम पूजा है।

साधारण मनुष्यों का अंत:करण आत्मा कहलाता है। अविकसित होने के कारण उसकी जीव सत्ता है। जब उसका विकास होता है, अहंभाव विस्तृत होकर वसुधैव कुटुंबकम् के रूप में परिणत हो जाता है, सब अपने आत्मीय दिखाई पड़ने लगते हैं। सबमें आत्मा और आत्मा में सब समाए हुए दिखाई पड़ने लगते हैं तो वह लघु आत्मा परम आत्मा (परमात्मा), महान आत्मा (महात्मा) बन जाता है। विश्व की समष्टि आत्मा ही विश्वात्मा या परम आत्मा है। इसे ही समाज पुरुष, विराट भगवान, जनता जनार्दन आदि नामों से भी पुकारते हैं। विश्व-मानव की उपासना, समाज-पुरुष की सेवा भगवान ॐ की ही आराधना है। गीता के १०वें अध्याय में भगवान ने बताया है कि वृक्षों में पीपल, पशुओं में गौ, मनुष्यों में ब्राह्मण, नक्षत्रों में चंद्रमा, ग्रहों में सूर्य, इंद्रियों में मन, पर्वतों में हिमालय, पक्षियों में गरुड़, नदियों में गंगा, मंत्रों में गायत्री मंत्र, ऋतुओं में बसंत मैं हूँ।

अर्थात जो-जो श्रेष्ठ, सात्त्विक, सुदृढ़ एवं उपयोगी विभूतियाँ हैं उनमें मेरे ही अंश की अधिकता है। जिन विचारधाराओं में, व्यक्तियों में, वस्तुओं में इस प्रकार के तत्त्व अधिक हैं उनमें ईश्वरीय कलाओं की विशेषता अनुभव की जा सकती है। जहाँ प्रभु का निवास होगा, वहाँ निश्चयपूर्वक श्रेष्ठता, सात्त्विकता, दृढ़ता एवं परोपकार की प्रधानता होगी। तलाश करने पर अनेक स्थानों पर हम प्रभु का ऐसा निवास ढूँढ़ सकते हैं और उसकी झाँकी करके अपने को तृप्त कर सकते हैं। इसलिए कहा गया है कि सत्संग में भगवान का निवास होता है। प्राचीनकाल में सत्पुरुषों का निवास अधिक रहने के कारण तीर्थों की महिमा हुई थी और तीर्थयात्रा को पुण्यफल माना जाता था। आज भी जहाँ महापुरुषों का निवास है, वह स्थान प्रत्यक्ष तीर्थ ही है।

राम, कृष्ण आदि की सुंदर छवियाँ एवं उनकी गुणावली का ध्यान करना अपनी अंतिम उन्नति का आदर्श एवं लक्ष्य स्थापित करना है। बड़े-बड़े भवन बनाने होते हैं तो पहले उनका छोटा मॉडल बना लिया जाता है, उसके आधार पर विशाल भवन बनता है। हमें स्वास्थ्य,सौंदर्य, बल, गुण, विशेषता आदि की प्राप्ति से आगे बढ़ते

हुए आत्मविकास के जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उस मॉडल से अनन्य प्रेम एवं प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करने के लिए भगवान की कल्पित मूर्तियों का ध्यान किया जाता है। मंदिर, मठ आदि आत्मिक ज्ञान के प्रचार केंद्र हैं। उस केंद्र के कार्यकर्ताओं की सम्मानपूर्वक आजीविका चलाने के लिए मंदिरों में भोग, चढ़ावा, पूजा आदि की विधि-व्यवस्था बनाई गई थी। आज वह सब पद्धतियाँ बड़ी गड़बड़ हो गई हैं। अनाचार, धूर्तता और मूर्खता का बोलबाला है, पर प्रयत्न करने पर प्राचीन आदर्शों को पुनः सजीव किया जा सकता है, और भगवत् पूजा के आधार पर धर्म, समाज, राष्ट्र-संस्कृति एवं सामाजिक सदाचार के पुनः उद्धार के विशाल आयोजन किए जा सकते हैं। इसके लिए मंदिरों, मठों एवं पुरोहितों का सुधार कर उनसे केंद्र बिंदु का कार्य लिया जा सकता है।

गायत्री का प्रथम अक्षर ॐ हमें इन्हीं सब बातों की शिक्षा देता है। यह ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। उसके उच्चारण से सूक्ष्म प्रकृति आत्म-चेतना के साथ संबंधित होने की साधना अपने आप होती चलती है। यह ईश्वर का स्वयंघोषित सबसे छोटा नाम है। साथ ही गायत्री गीता ने बताया है कि वह ईश्वर न्यायकारी, प्रभु, समदर्शी, अविनाशी, चैतन्य, आनंदस्वरूप, नियमरूप, निराकार एवं विश्व आत्मा है। इन नामों में जो महत्त्वपूर्ण तत्त्वज्ञान छिपा हुआ है उसे जान कर उसको आचरण रूप से लाकर हमें ॐ की उपासना करनी चाहिए।

'ॐ' में तीन अक्षर मिले हुए हैं अ, उ, म्। अ, का अर्थ है आत्म-परायणता, शरीर के विषयों से मन हटाकर आत्मानंद में रमण करना। उ, का अर्थ है—उन्नति, अपने को शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं आत्मिक संपत्तियों से संपन्न करना। म, का अर्थ है—महानता; क्षुद्रता, संकीर्णता, स्वार्थपरता, इंद्रिय लोलुपता को छोड़कर प्रेम, दया, उदारता, सेवा, त्याग, संयम एवं आदर्श के आधार पर जीवनयापन की व्यवस्था बनाना। इन तीनों अक्षरों में जो शिक्षा है उसे अपनाकर व्यावहारिक रूप से 'ॐ' की, ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।

❐

(भूः)

सर्वत्र अपना ही प्राण बिखरा पड़ा है

भूर्वै प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदांतपारं गता,
प्राणः सर्वविचेतनेषु प्रसृतः सामान्यरूपेण च।
एतेनैव विसिद्ध्यते हि सकलं नून समानं जगत्,
द्रष्टव्यः सकलेषु जन्तुषु जनैर्नित्यं ह्यसुश्चात्मवत्॥

अर्थ—मनन करने वाले मुनि लोग प्राण को भूः कहते हैं, यह प्राण सबमें समष्टि रूप से फैला हुआ है। इससे सिद्ध है कि यहाँ सब समान हैं। अतएव सब मनुष्यों और प्राणियों को अपने समान ही समझना चाहिए।

हम शरीर हैं, इस भावना से भावित होकर लोग वही कार्य करते हैं जो शरीर को सुख देने वाले हैं। आत्मा के आनंद की प्रायः सर्वदा उपेक्षा की जाती रहती है। यही माया अविद्या, भ्रांति, बंधन में बाँधने वाली है। मैं वस्तुतः कौन हूँ ? मेरा स्वार्थ, सुख और आनंद किन बातों में निर्भर है ? मेरे जीवन का उद्देश्य एवं लक्ष्य क्या है ? इन प्रधान प्रश्नों की लोग उपेक्षा करते हैं और निरर्थक बाल-क्रीड़ाओं में उलझे रहकर मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों को यों ही गवाँ देते हैं।

गायत्री के 'भूः' शब्द में बताया गया है कि हम शरीर नहीं प्राण हैं—आत्मा हैं। जब प्राण निकल जाता है तो शरीर इतना अस्पर्श एवं विषाक्त हो जाता है कि उसे जल्द से जल्द जलाने, गाड़ने या किसी अन्य प्रकार से नष्ट करने की आवश्यकता अनुभव होती है। आत्मा के संसर्ग से ही यह हाड़-मांस, मल-मूत्र आदि घृणित वस्तुओं से बना हुआ शरीर सुख, यश, वैभव, प्रतिष्ठा का माध्यम रहता है। जब वह संयोग बिछुड़ जाता है तो लाश, पशुओं के मृतशरीर के समान ही उपयोगी नहीं रहती।

हम प्राण हैं—आत्मा हैं। ज्ञान संचय करने से पूर्व हमें अपने आप को जानना चाहिए। सुख-सामग्री इकट्ठा करने का प्रयत्न करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि आत्मा को सुख-शांति किन वस्तुओं से मिल सकती है। समृद्धि, यश, प्रतिष्ठा, पद आदि संचित करने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि आत्म गौरव, आत्मसम्मान, आत्मोन्नति का केंद्र कहाँ है? शरीर को प्रधानता देना और आत्मा की उपेक्षा करना यह भौतिकवाद है। आत्मा को प्रधानता देना और शरीर की उचित रक्षा करना यह आत्मवाद है। गायत्री कहती हैं कि हम आत्मा हैं। इसलिए हमारा सर्वोपरि स्वार्थ आत्मपरायणता में है, हमें आत्मवादी बनना चाहिए और आत्मकल्याण, आत्मचिंतन, आत्मोन्नति एवं आत्मगौरव की सबसे अधिक चिंता करनी चाहिए।

जब हम आत्मवादी बनते हैं तो स्वभावतः भौतिकवाद को लेकर उतना ही महत्त्व देना होता है, जितना कि वह अनिवार्यतः आवश्यक है। शरीर की क्षुधाएँ बुझाने के लिए भोजन करना, कुटुंब पोषण की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए धन ईमानदारी से कमाया जा सकता है। शेखी-खोरी और बड़प्पन की कामना से हम बहुत सी बेकार की चीजें सूरत, फैशन, अपव्यय, उत्सव आदि के खरचीले भार अपने सिर पर ओढ़ लेते हैं। वजन को बढ़ाते चलना और उसको उठाने के लिए धर्म और जीवन को बलिदान करते चलना, आज की यही चर्या है। यदि सादा जीवन बिताया जाए, अपने अपरिग्रही पूर्वजों की भाँति आवश्यकताओं को सीमित रखा जाए तो भौतिक आकर्षण के लोभ से सहज ही बचा जा सकता है। तब आत्म-कल्याण के लिए कुछ सोचने और करने का अवकाश मिल सकता है। इसलिए आवश्यकताओं को कम करना और उच्च विचारों को हृदयंगम करना ही एकमात्र वह उपाय रह जाता है, जिसके सहारे हम आत्मकल्याण की ओर चल सकते हैं। 'सादा जीवन और उच्च विचार' यह आत्मवादी की प्रथम साधना है। इस साधना को अपनाए बिना कोई भी व्यक्ति आत्मकल्याण

की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। वस्तुओं की अपेक्षा गुण का मूल्य एवं सम्मान जब समझ में आने लगे, तब समझना चाहिए कि यह आत्मवाद का प्रकटीकरण हो रहा है।

आत्मकल्याण का अगला कदम सबमें अपनेपन का दर्शन करना है। विश्वव्यापी प्राण एक है, प्राणिमात्र में एक आत्मा ही निवास कर रही है, एक ही नाव में सब सवार हैं, एक ही नदी की सब तरंगें हैं, एक ही सूर्य के सब प्रतिबिंब हैं, एक ही जलाशय के सब बुलबुले हैं, एक माला के सब दाने हैं, सबमें एक ही प्रकाश जगमगा रहा है। संपूर्ण समाज शरीर है। हम सब उसके अंग मात्र हैं। आत्मा एक मनुष्य की होती है, संपूर्ण प्राणियों की विश्वव्यापी परम विस्तृत जो आत्मा है उसे परमात्मा या विश्वात्मा कहते हैं। नरनारायण, जनता-जनार्दन, विराट स्वरूप, विश्वनाथ,सर्वेश्वर,सर्वांतर्यामी आदि शब्दों में यही भाव भरा हुआ है कि एक ही चैतन्य तत्त्व प्राणिमात्र में समाया हुआ है। इसलिए सब आपस में संबंधित हैं, सब आपस में पूर्ण आत्मीय हैं, पूर्णतया एक हैं।

संसार की सब पंच भौतिक वस्तुएँ निर्जीव हैं, उनमें सुख देने वाला कोई तत्त्व नहीं। जिस वस्तु को हम अपनी मान लेते हैं वही प्रिय लगने लगती है। वस्तुओं में प्रिय-अप्रिय लगने लायक कोई विशेषता नहीं है। हमारी 'अपनेपन' की भावना ही उस साधारण वस्तु को परम-प्रिय, परम आकर्षक, परम आनंददायक बना देती है। अपने मकान, व्यापार, परिवार, शरीर, वाहन आदि से हम बहुत प्रसन्न रहते हैं, वही प्रिय हैं, पर उनसे भी अधिक अच्छी ये सब वस्तुएँ दूसरे की हों तो उनसे उतना आनंद नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि आनंद का उद्गम हमारी आत्मभावना है। यह आत्मीयता की भावना यदि प्राणिमात्र में, समस्त सृष्टि में, आरोपित कर दी जाए तो विश्व का कण-कण स्वर्गीय आनंद में ओत-प्रोत हो जाएगा। प्रत्येक प्राणी अपना भाई, भतीजा जैसा लगने लगेगा। अपने को विश्व-परिवार का सदस्य, समस्त सृष्टि का

स्वामी, अनुभव करने में जो अपार आनंद आता है, उसका गायत्री के 'भूः' शब्द का अर्थ समझने वाला ही रसास्वादन कर सकता है।

एक ही प्राण समस्त शरीर में व्याप्त है। हाथ, पाँव, आँख, नाक, कंठ, छाती आदि अवयवों की चेतना एक ही केंद्र पर आधारित है। इसलिए पृथक-पृथक रंग, रूप, गुण, स्वभाव, योग्यता, शक्ति के होते हुए भी एक ही शरीर के अंग हैं। सब अवयव जब परस्पर मिल-जुलकर काम करते हैं, अपने संकुचित स्वार्थ का विचार न करके सामूहिक स्वार्थ को प्रधानता देते हैं तभी शरीर ठीक काम करता है। यदि इसमें से हर एक अंग अपने-अपने लाभ, स्वार्थ, संचय, सुख, आराम, प्रतिष्ठा, बड़प्पन की बात सोचते हैं तो समझना चाहिए कि जीवन के लिए संकट उत्पन्न हुआ। फेफड़े अपने तक ही वायु को सीमित रखें, आमाशय भोजन को पचाकर अपने में ही धरे रहे, हृदय सारा रक्त अपने पास जमा करके, पैर सब अंगों का भार ढोने से इनकार कर दें, हाथ दिन भर श्रम करके अन्य अंगों के पोषण के लिए परिश्रम करने में आनाकानी करें तो शरीर की सारी व्यवस्था बिगड़ जाएगी और वह स्वार्थी अंग भी सुखपूर्वक न रह सकेंगे।

समाज एक शरीर है, व्यक्ति उसका अंग है। यदि व्यक्ति अपने स्वार्थ को प्राथमिकता देता है और समाज के हित की अवहेलना करता है तो निश्चय ही न वह व्यक्ति सुखी रह सकेगा और न समाज। सबके हित में अपना हित और सब की हानि में अपनी हानि है। मुहल्ले में प्लेग, चेचक, हैजा आदि कोई रोग फैले या पड़ोसी के घर में आग लग जाए तो निश्चय ही हमारा घर भी सुरक्षित नहीं रह सकता और नगर में गुंडों का आतंक बढ़ जाए तो हम भी शांतिपूर्वक नहीं रह सकते। शत्रु का हमला किसी नगर पर हो तो उसके प्रत्येक निवासी को समान रूप से खतरा है। इसी प्रकार जहाँ जलवायु उत्तम हो, सत्पुरुष रहते हों, सुशासन हो, शांति का वातावरण हो, वहाँ सभी लोग सुखी रहते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि पत्नी के पाप का भागी उसका पति और शिष्य

के पाप का भागी उसका गुरु भी होता है। इसी प्रकार पत्नी को पति के पुण्य में से और शिष्य को गुरु-तप में से हिस्सा मिलता है। कारण स्पष्ट है कि परस्पर संबंधित होने के कारण एकदूसरे के प्रति उत्तरदायित्व से बँधे हुए हैं, फलस्वरूप एकदूसरे की बुराई-भलाई एवं हानि-लाभ के लिए भी जिम्मेदार हैं। निर्दोषों के साथ में अनीति हो रही हो तो उसे न रोकने वाले वहाँ के निवासी भी पापी होते हैं। सरकार ऐसे प्रदेशों पर सामूहिक जुरमाना करती है, क्योंकि बुराई को न रोकना भी एक जुर्म है। भूकंप, महामारी, युद्ध, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि सामूहिक आपत्तियों का कारण उस देश की जनता की सामूहिक अनैतिकता, गरीबी, अकर्मण्यता आदि बुराइयाँ हैं। इन्हें दूर करने के लिए वहाँ के लोगों में पुरुषार्थ जाग्रत करने के लिए ईश्वर इस प्रकार की आपत्तियाँ भेजता है। इन आपत्तिग्रस्त क्षेत्रों में अनेकों सत्पुरुष भी दुःख पाते हैं। कारण स्पष्ट है कि अपने पड़ोसियों की हीनावस्था के लिए वे स्वयं भी उत्तरदायी हैं। समस्त मानवसमाज एक सूत्र शृंखला में बँधा हुआ है।

जिनका हृदय संकुचित है, जिनकी बुद्धि संकीर्ण है, जिनकी भावना अनुदार है, वे अविवेकी मनुष्य खुदगरजी को प्रधानता देते हैं। परिणाम यह होता है कि लोकहित तो वे करते नहीं, अपना हित उनसे हो नहीं पाता। भारतीय धर्मशास्त्र ने बताया है—**उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्।** अर्थात उदार मनुष्यों के लिए सारा संसार अपना कुटुंब है। भगवान बुद्ध ने यह कहकर मोक्ष को ठुकरा दिया कि जब तक एक भी प्राणी बंधन में है, तब तक मुझे मोक्ष की आवश्यकता नहीं। बादल अपने लिए नहीं बरसते, फूल अपने लिए नहीं खिलते, वृक्ष अपने फलों को आप नहीं खाते, सरोवर अपने लिए जल नहीं भरते रहते, मधुमक्खी अपने लिए मधु संचय नहीं करती, सूर्य-चंद्र अपने लिए भ्रमण नहीं करते। सृष्टि के समस्त जड़ चेतन पदार्थों पर दृष्टिपात कीजिए, वे केवल आत्मसुख के लिए ही जीवन धारण नहीं किए हुए हैं; वे प्रभु की इस पुष्प वाटिका, सृष्टि की शोभा बढ़ा रहे हैं,

दूसरों की सुख-सुविधा बढ़ाना उनका प्रधान प्रयोजन है। मनुष्य को मिली हुई विशेष शक्तियाँ तो ईश्वर की अमानत हैं, जो इसलिए हैं कि उनके द्वारा कम बुद्धि वालों की सहायता करके उन्हें ऊँचा उठाया जाए, सुखी बनाया जाए। जो यह समझते हैं कि हमारे पास जो धनबल, बुद्धि-बल, शरीरबल है, वह केवल मात्र हमारे ही लाभ के लिए है वे भूल करते हैं। जनसाधारण के लाभ के लिए दी हुई ईश्वर की अमानत का वे दुरुपयोग करते हैं। अमानत में खयानत का अपराधी उन्हें ठहराया जाएगा।

गायत्री की शिक्षा है कि अपनी आत्मा को सबमें और सबकी आत्मा को अपने में समाई हुई देखो। अपना वही लाभ स्वीकार करो जो समाज के लाभ का एक भाग है। अपने जिस कार्य से औरों की हानि होती है, बहुसंख्यक नागरिकों पर जिसका बुरा प्रभाव पड़ता है ऐसा लाभ सर्वथा त्याज्य है।

अपना ही प्राण दूसरों में समाया हुआ है इसलिए दूसरों के दु:ख को अपना दु:ख समझना चाहिए। जिस व्यवहार को हम अपने लिए उचित नहीं समझते, उसे दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मेरे साथ दूसरे लोग दुर्व्यवहार न करें। चोरी, ठगी, विश्वासघात, छल, उद्‌दंडता, निष्ठुरता, बेईमानी, अनुदारता का व्यवहार उसके साथ न हो, वरन मधुरता, नम्रता, उदारता, सचाई एवं सहायता की नीति बरती जाए।

स्मरण रखना चाहिए कि जब हम दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे तो हमें भी ऐसा प्रतिफल मिलेगा। जो बोएँगे वही काटेंगे। यदि वैसा ही व्यवहार हमारे साथ दूसरे न भी करें तो भी विश्वव्यापी आत्मा को हमारे सद्‌व्यवहार से जो सुख मिलेगा, वह आंशिक और अप्रत्यक्ष रूप से अपने को ही तो मिला, क्योंकि अंततः सभी आत्माएँ एक-दूसरे से संबंधित हैं।

किसी को छोटा या नीच समझना अनात्मवाद है। गीता में पंडित की परिभाषा करते हुए कहा है—"विद्या-विनयसंपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता, चांडाल आदि सब छोटे-बड़े नीच-ऊँच को जो समता की दृष्टि से देखता है वह पंडित है।" किसी को जाति, वंश, कुल, देश, वर्ण, लिंग की दृष्टि से ऊँचा या नीचा गिनना अपंडितपन है। परमात्मा के सभी पुत्र एक मानव जाति के हैं, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, चाहे शूद्र हों या ब्राह्मण। सबका अधिकार, पद, कर्त्तव्य और गौरव समान है। अपनी योग्यता, विद्या, पुरुषार्थ, पुण्य, सेवा आदि गुणों के बल पर लोग ऊँचा उठते हैं, महात्मा, महापुरुष, ब्राह्मण, पूज्यनीय बनते हैं और अपने ही दोष-दुर्गुणों के कारण नीच बनते हैं। यह गुण, कर्म, स्वभाव ही नीचता और महानता के आधार हैं अन्यथा प्राणिमात्र में प्रकाशवान ईश्वरीय ज्योति आत्मा एक ही जाति की है। किसी को स्त्री या पुरुष होने के कारण, शूद्र या ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण छोटा या बड़ा मानना, अधिकार को न्यूनाधिक मानना अज्ञान मूलक है।

गायत्री का 'भूः' शब्द बार-बार हमारे लिए आदेश करता है कि हम शरीर नहीं आत्मा हैं। इसलिए आत्मकल्याण के लिए, आत्मोन्नति के लिए, आत्मगौरव के लिए प्रयत्नशील रहें और समाज-सेवा द्वारा विराट पुरुष, विश्वमानव, परमात्मा की पूजा करें।

❐

(भुवः)

कर्मयोग की शिक्षा

भुवर्नाशो लोके सकलविपदां वै निगदितः,
कृतं कार्यं कर्तव्यमिति मनसा चास्य करणम्॥
फलाशां मर्त्यो ये विदधति न वै कर्मनिरताः।
लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम्॥

अर्थ—संसार में समस्त दुःखों का नाश ही 'भुवः' कहलाता है। कर्त्तव्य भावना से किया गया कर्म ही कर्म कहलाता है। परिणाम के सुख की अभिलाषा को छोड़कर जो कर्म करते हैं, वह मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं।

गायत्री का 'भुवः' शब्द हमें कर्मयोग का संदेश देता है, क्योंकि इसी आधार पर समस्त प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। मनुष्य नाना प्रकार की आशाएँ, तृष्णाएँ, लालसाएँ, कामनाएँ किया करता है। वे इतनी अनियंत्रित और अवास्तविक होती हैं कि उनकी पूर्ति लगभग असंभव रहती है। एक इच्छा की पूर्ति हो भी जाए तो वह तुरंत ही अपना रूप बढ़ाकर और बड़ी हो जाती है। इस प्रकार वह मनुष्य सदा अभावग्रस्त, दीन एवं इच्छुक ही बना रहता है। तृप्ति का आनंद उससे दूर ही रहता है।

वस्तुओं और परिस्थितियों में सुख ढूँढ़ना एक प्रकार की मानसिक मृगतृष्णा है। शरदऋतु में जब भूमि के क्षार फूलकर ऊपर आ जाते हैं तो प्यासा मृग उन्हें दूर से पानी समझता है, पर पास जाने से उसे अपने भ्रम का पता चलता है और अभीष्ट वस्तु न पाकर दुखी तथा निराश होता है। फिर उसे दूसरी जगह ऐसा ही भ्रमजल दिखाई पड़ता है वहाँ भी दौड़ता और निराश होता है। इसी उलझन में पड़ा हुआ वह भारी कष्ट सहता रहता है। यही दशा तृष्णाग्रस्त फललोभी मनुष्यों की होती है। यद्यपि उन्हें भगवान बहुत कुछ देता है, पर उस प्रभु-प्रसाद को

प्राप्त करने के सौभाग्य से प्रसन्न होने का अवकाश नहीं मिलता, उधर ध्यान ही नहीं जाता ताकि संतोष अनुभव कर सकें। एक के बाद दूसरी छोटी के बाद बड़ी तृष्णा आ पड़ने से उसे यही मालूम पड़ता रहता है कि मैं सबसे गरीब, दीन, दुखी एवं अभावग्रस्त हूँ। काश, वह इन तृष्णाओं से मुक्ति पाकर अपनी वर्तमान स्थिति की विशेषताओं और महानताओं को ध्यानपूर्वक देख सका होता तो उसे पता चलता कि प्रभु ने कृपापूर्वक उसे इतना दे रखा है जिसे प्राप्त करने के लिए इस विश्व के असंख्य प्राणी तरसते हैं। हमारा जैसा सौभाग्य उन प्राणियों को मिल सका होता तो वे अपने सौभाग्य पर फूले नहीं समाते, उसे स्वर्गीय वैभव अनुभव करते, ईश्वर को अनेक धन्यवाद करते। एक हम हैं जो इतनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, कौटुंबिक संपदाएँ प्राप्त होते हुए भी नित नई तृष्णाएँ गढ़-गढ़कर उनके कारण असंतुष्ट और दुखी रहते हैं, प्रभु को कोसते रहते हैं। उसने हमें यह नहीं दिया, वह नहीं दिया, हम यों अभागे रहे, त्यों अभागे रहे। इन शिकायतों और तृष्णाओं का अंत कुबेर या कल्पवृक्ष भी नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति स्वर्ग में भी दीन रहेंगे। संतोष का हेतु तो केवल आत्मज्ञान है। उसका उदय होते ही आसक्ति, फलाशा और तृष्णा का अंधकार मिट जाता है और मनुष्य तत्क्षण अपने को बड़ा सौभाग्यशाली, संतुष्ट, ईश्वर का कृपा-पात्र, सुखी एवं प्रसन्न अनुभव करने लगता है। तृष्णा सुरसा है। हनुमान जी उसके मुख में घुसे और अपना रूप बढ़ाने लगे,सुरसा का मुँह और अधिक बढ़ता गया। अंत में हनुमान जी थक गए तब उनने अपना रूप छोटा बनाया और उस आसुरी गोरखधंधे में से निकल आए। तृष्णाओं को बढ़ाते जाना और उनको तृप्त करने के लिए परेशान रहना, यह एक आसुरी गोरखधंधा है। इस तिलस्म में से वही छूट सकता है जो गायत्री के 'भुवः' शब्द को हृदयंगम कर ले, कर्मयोग को अपना ले।

फल की इच्छा न करने का यह अर्थ नहीं है कि बिना सोचे-समझे काम करते रहा जाए या उसके परिणामों पर विचार न किया

जाए। ऐसा होना असंभव है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य किए जाते हैं। बिना उद्देश्य के क्रिया कौन करेगा ? आत्मोन्नति, आत्मसुख, आत्मानंद मनुष्य का उद्देश्य है। जीवनयात्रा को चलाते हुए आनंद-लाभ करने के उद्देश्य से कर्म किए जाते हैं। ये उद्देश्य या फल स्पष्ट हैं। विवेकपूर्वक, दूरदर्शिता के साथ क्रमबद्ध योजना बनाकर अपना कार्यक्रम निर्धारित कर लेना चाहिए और उस योजना को पूरा करने के लिए उत्साह और परिश्रमपूर्वक कार्य रूप में जुट जाना चाहिए। मन को क्रिया में प्रवृत्त रखना, अपनी कर्त्तव्यपरायणता में कस लेना, कार्य-प्रणाली को उच्चकोटि की बनाने में संलग्न रखना कर्मयोग है और कार्य-प्रणाली में कम ध्यान देकर मन को भविष्य के लाभों में शेखचिल्ली की तरह लगाए रहना आसक्ति या फलाशा है।

आसक्ति परायणता में दोष यह है कि मन नित नये मनमोदक बनाता और उनके लिए ललचाता रहता है। लड्डू बिगाड़ता और बरफी बनाता है। उसके मन में नाना प्रकार की कामनाएँ उठती रहती हैं। जिनके कारण कार्यक्रमों को रोज-रोज बदलना पड़ता है, फलस्वरूप उनका कोई भी काम पूरा नहीं हो पाता और सभी मनोरथ अधूरे रहते हैं। इसके अतिरिक्त कार्य का परिणाम वही हो जो चाहा गया है, इस बात का भी कोई निश्चय नहीं है। अनेक बार अच्छे प्रयत्न भी प्रारब्ध या अज्ञात कारणों से निष्फल चले जाते हैं। उस असफलता में उन व्यक्तियों को जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधे बैठे थे, भारी आघात लगता है और उनका हृदय टूट जाता है। ऐसे ही लोग असफलताओं के अवसरों पर आत्महत्या जैसे भयंकर कर्म करते देखे जाते हैं।

आगे बढ़ना, उन्नति करना, अधिक उत्तम स्थिति प्राप्त करना, ऊपर उठना, विकसित होना जीव का स्वाभाविक धर्म है। इस धर्म-कर्त्तव्य को पालन किए बिना कोई प्राणी चैन से नहीं बैठता, जो इस दिशा में प्रयत्न नहीं कर रहा है, उसकी आत्मा हर घड़ी टोंचती रहेगी और वह मंद आत्महत्या का कष्ट सदा ही भोगता रहेगा। इसलिए लोभ

और तृष्णा से प्रेरित होकर नहीं वरन आत्मधर्म को पालन करने के लिए हमें अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए। कर्त्तव्य के लिए पूरी शक्ति, पूरी दिलचस्पी और पूरी सावधानी से तत्परतापूर्वक लगे रहना चाहिए। कर्मयोगी के आनंद का केंद्र उसकी क्रिया-प्रणाली होती है। वह अपने सत्प्रयत्नों में हर घड़ी आत्मसम्मान और आत्मसंतोष का रसास्वादन करता है।

तृष्णातुर लोग बड़े-बड़े मनसूबे बाँधते हैं,बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाते हैं। सफलता मिलने पर जो मधुर फल मिलेंगे उनके लिए लार टपकाते रहते हैं। मन की प्रवृत्ति फलाशा में इतनी अधिक लगी रहती है कि क्रिया-प्रणाली पर सोचने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। काफी लोग विषय-वासना के उन्माद में अंधे हो जाते हैं और अपना स्वास्थ्य, धन, यश आदि सब गँवा बैठते हैं। लोभी लोग धूर्तों द्वारा प्रलोभन दिखाकर बुरी तरह ठगे जाते हैं। कारण स्पष्ट है कि फलाशा का प्रलोभन उनके सामने इतना जबरदस्त होता है कि उसके तूफान में बेचारा विवेक सूखे पत्ते की तरह उड़ जाता है और मनुष्य अंधा होकर क्रिया-प्रणाली के औचित्य को भुलाकर मनमानी करने लगता है और जब वे मनोरथ पूरे नहीं होते तो बेतरह निराश होता है। अपनी निराशा का, असफलता का कोप वह साथियों, मित्रों, दुनिया वालों, देवताओं, दुर्दिनों आदि जो भी सामने दिखाई पड़ते हैं उन्हीं पर थोप देता है। ऐसे लोग जो बड़े मनोरथ करते रहते हैं प्राय: दुखी, निराश, असंतुष्ट, असफल एवं अशांत देखे जाते हैं। कामनाएँ उनके लिए बंधन रूप हो जाती हैं और वे एक मानसिक बीमारी अपने ऊपर अकारण लाद लेते हैं।

इसलिए गायत्री के 'भुवः' शब्द का आदेश है कि हम कर्मयोगी बनें। बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और विवेकपूर्वक यह निर्णय करें कि हमें सत्परिणाम के लिए, जीवन-विकास के लिए क्या करना है, जो करना

हो उसमें तत्परतापूर्वक जुट जाएँ। जैसे विद्यार्थी वार्षिक परीक्षा के बाद ही उत्तीर्ण घोषित किया जाता है, पर वर्ष भर में प्रत्येक दिन वह इस उत्तीर्णता का एक-एक अंक संग्रह करता रहा है और अंत में जब वह संग्रह अभीष्ट मात्रा में इकट्ठा हो गया है तो वह उत्तीर्ण घोषित कर दिया गया। इसी प्रकार क्रियाशीलता का प्रत्येक अंश सफलता का एक भाग है। हर रोज जितना प्रयत्न किया जाता है, अभीष्ट उद्देश्य की सफलता का उतना ही अंश प्रतिदिन प्राप्त होता चलता है। आजकल लोग अपना काम बड़े उदास मन से करते हैं, अपने कार्यक्रम को तुच्छता एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, बेगार की तरह उसे पूरा करते हैं और आलस्य एवं तुच्छ कार्य के लिए अपनी रचना को बड़ी कुरूप एवं निकृष्ट कोटि की बना देते हैं। यह 'कर्म भगवान' का साक्षात अपमान है। आज का मजूदर वेतन-वृद्धि एवं श्रम का समय घटाने के लिए तो बड़ा संघर्ष करता है, पर उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि अपनी कृति को ऐसी उच्चकोटि की, मजबूत, चिरस्थायी एवं कला-पूर्ण बनावे कि उस कृति की तथा कर्त्ता की सर्वत्र प्रतिष्ठा हो। मजदूरों में ही क्यों हर क्षेत्र में यह प्रवृत्ति बड़े व्यापक रूप से फैली हुई है। लोग फल की, धन की जितनी चिंता करते हैं उससे आधी भी अपनी कृतियों को प्रतिष्ठित बनाने के लिए की जाए तो उसका सत्परिणाम हमारी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय समृद्धि एवं प्रतिष्ठा पर बहुत भारी हो सकता है।

भाग्य और कर्म, तकदीर और तदबीर दोनों एक ही वस्तु हैं। जैसे कल का दूध आज दही बन जाता है वैसे ही भूतकाल के कर्म आज प्रारब्ध बनकर प्रकट होते हैं। हम अपने भाग्य के निर्माता आप हैं। अपनी कर्मरेखा के लेखक, प्रारब्ध के रचयिता हम स्वयं हैं। भूतकाल में जो कर चुके हैं, उसका परिणाम आज मौजूद है। यदि हम भविष्य को अच्छा, सुख-शांतिमय, आनंददायक बनाना चाहते हैं तो आज के कर्त्तव्य-कर्म को मजबूती से अपनाना पड़ेगा, कर्मयोगी बनना

पड़ेगा। यदि आज के कर्त्तव्य की उपेक्षा की जा रही है तो निश्चय है कि कल का प्रारब्ध हमें अत्यंत त्रासदायक दुर्भाग्य के रूप में भोगना पड़ेगा।

कर्म से वैराग्य लेना भूल है। बुराइयों से, लिप्सा से, तृष्णा से दुष्कर्मों से, कुविचारों से, आलस्य से वैराग्य लेना चाहिए। कर्त्तव्य-कर्म से वैराग्य लेना तो शब्द की दुर्गति करना है। प्राचीन ऋषि-मुनि निरंतर कर्त्तव्यरत रहते थे। उन्होंने लोकहित में जीवन का सदुपयोग जिस उत्तमता से किया था, वह आदर्श है। प्रत्येक कर्मयोगी को वैसा ही वैरागी होना चाहिए। घर में रहकर तपोवन का निर्माण करना, भोग के साधन होते हुए भी उनका परित्याग करना सच्चा वैराग्य कहा जा सकता है। अभाव में जो त्याग होता है, उसके अपरीक्षित होने का कारण परीक्षा के समय पर विफल होने का भय बना रहना है।

कर्मयोगी अनुद्विग्न रहता है। वह जरा जरा से हानि-लाभ में मानसिक संतुलन को नष्ट नहीं होने देता। हर्ष, शोक उसके लिए समान हैं, हानि-लाभ में, सफलता-असफलता में उसे मानसिक विक्षोभ नहीं होता। क्योंकि उसका केंद्रबिंदु कर्म है। यदि अपना कर्त्तव्यपालन किया जा रहा है तो असफलता में दुखी या सफलता में हर्षोन्मत्त होने का कोई कारण नहीं। फल देने वाली शक्ति दूसरी है, हम तो अपना कर्त्तव्य पूरा करें—यह भावना स्थितप्रज्ञ की है, अनासक्त योगी की है। जो इस दृष्टिकोण से सोचता है, वह सदा प्रसन्न ही रहता है, दुःख या कष्ट में भी उसे अप्रसन्नता का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

गायत्री का 'भुवः' शब्द हमें कर्मयोगी बनाता है। इस आदेश को शिरोधार्य करने वाला कर्म-बंधन में नहीं फँसता; इसलिए जीवन-मुक्ति सदा उसके करतलगत रहती है।

❒

(स्वः)

स्थिरता और स्वस्थता का संदेश

स्वरेषो वै शब्दो निगदति मनःस्थैर्यकरणम्,
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्युपदिशति चित्तस्य चलतः॥
निमग्नत्वं सत्यव्रतसरसि चाचक्षति उत,
त्रिधां शान्तिं ह्येतां भुवि च लभते संयमरतः॥

अर्थ—'स्वः' यह शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है। 'चंचल मन को स्वस्थिर और स्वस्थ रखो' यह उपदेश देता है। 'सत्य में निमग्न रहो' यह कहता है। इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शांति प्राप्त करते हैं।

जीवन में आएदिन दुरंगी घटनाएँ घटती रहती हैं। आज लाभ तो कल नुकसान, आज बलिष्ठता है तो कल बीमारी, आज सफलता है तो कल असफलता। दिन-रात का चक्र जैसे निरंतर घूमता रहता है वैसे ही सुख-दुःख का, संपत्ति-विपत्ति का, उन्नति-अवनति का पहिया भी घूमता रहता है। यह हो नहीं सकता कि सदा एकसी स्थिति ही रहे। जो बना है वह बिगड़ेगा, जो बिगड़ा है वह बनेगा, श्वासों के आवागमन का नाम ही जीवन है। साँस चलना बंद हो जाए तो जीवन भी समाप्त हो जाएगा। सदा एक सी स्थिति बनी रहे, परिवर्तन बंद हो जाए तो संसार का खेल ही खतम हो जाएगा। एक के लाभ में दूसरे की हानि है और एक की हानि में दूसरे का लाभ। एक शरीर की मृत्यु ही दूसरे शरीर का जन्म है। यह मीठे और नमकीन तथा हानि और लाभ के दोनों ही स्वाद भगवान ने मनुष्य के लिए इसलिए बनाए हैं कि वह दोनों के अंतर और महत्त्व को समझ सके।

खिलाड़ी लोग जैसे गेंद, ताश, शतरंज, नाटक आदि खेलों को मनोरंजन के उद्देश्य से खेलते हैं और उसकी अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं के कारण अपने आप को उत्तेजित, उद्विग्न या अशांत नहीं

करते, वैसा ही दृष्टिकोण जीवन की विविध समस्याओं के संबंध में रखा जाना चाहिए। किंतु हम देखते हैं कि लोग इन स्वाभाविक, आवश्यक एवं साधारण से उतार-चढ़ावों को देखकर असाधारण रूप से उत्तेजित हो जाते हैं और अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं।

जरा सा लाभ होने में, संपत्ति मिलने, रूप, सौंदर्य, यौवन की तरंगें आने, कोई अधिकार या पद प्राप्त हो जाने, पुत्र पैदा होने, विवाह होने आदि अत्यंत ही तुच्छ सुखद अवसर आने पर फूले नहीं समाते, खुशी से पागल हो जाते हैं, ऐसे-ऐसे उछलते-कूदते हैं मानो इंद्र का सिंहासन इन्हें ही प्राप्त हो गया हो। सफलता, बड़प्पन या अमीरी के अहंकार के मारे उनकी गरदन टेढ़ी हो जाती है, दूसरे लोग अपनी तुलना में उन्हें कीट-पतंग जैसे मालूम पड़ते हैं और सीधे मुँह किसी से बात करने में उन्हें अपनी इज्जत घटती दिखाई पड़ती है।

जरा सी हानि हो जाए, घाटा पड़ जाए, कोई कुटुंबी मर जाए, नौकरी छूट जाए, बीमारी पकड़ ले, अधिकार छिनें, अपमानित होना पड़े, किसी प्रयत्न में असफल होना पड़े, अपनी मरजी न चले, दूसरों की तुलना में अपनी बात हेठी हो जाए तो उनके दुःख का ठिकाना नहीं रहता। बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं, चिंता के मारे सूख-सूखकर काँटा हो जाते हैं। दिन-रात सिर धुनते रहते हैं, भाग्य को कोसते हैं। और भी, आत्महत्या आदि जो कुछ बन पड़ता है करने से नहीं चूकते।

जीवन एक झूला है जिसमें आगे भी और पीछे भी झोंके आते हैं। झूलने वाला पीछे जाते हुए भी प्रसन्न होता है और आगे आते हुए भी। यह अज्ञानग्रस्त, माया-मोहित, जीवन-विद्या से अपरिचित लोग, बात-बात में अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। कभी हर्ष में मदहोश हो बैठते हैं तो कभी शोक में पागल बन जाते हैं। अनियंत्रित कल्पनाओं की मृगमरीचिका में उनका मन अत्यंत दीन, अभावग्रस्त, दरिद्री की तरह व्याकुल रहता है। कोई उनकी रुचि के विरुद्ध बात कर दे तो क्रोध का पारावार नहीं रहता। इंद्रियाँ उन्हें हर समय तरसाती रहती हैं, भस्मक रोग वाले की जठर-ज्वाला के समान भोगों की लिप्सा बुझ नहीं पाती। नशे में चूर शराबी की तरह 'और लाओ, और

लाओ', 'और चाहिए, और चाहिए' की तरह रट लगाए रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए कभी भी सुख-शांति के एक कण का दर्शन होना भी दुर्लभ है। भले ही उनके पास लाख-करोड़ की संपदा तथा वैभव के साधन भरे-पूरे हों, पर वे किसी न किसी अभाव के कारण दीन, दरिद्री ही बने रहेंगे। उन्हें अपना सौभाग्य ही हर घड़ी परिलक्षित होता रहेगा। अपनी मनोवांछाएँ पूरी होने पर, जो सुखी होने की आशा करता है, वह मूर्ख न तो सुख को, न सुख के स्वरूप को, न सुख के उद्‌गम को जानता है और न वह उसे प्राप्त ही कर सकता है।

गायत्री के 'स्वः' शब्द में मानव प्राणी को शिक्षा दी गई है कि मन को अपने में, अपने अंदर स्थिर रखो। अपने भीतर दृढ़ रहो। घटनाओं और परिस्थितियों को जल-तरंगें समझो, उनमें क्रीड़ा-कल्लोल का आनंद लो। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों का रसास्वादन करो, किंतु उनके कारण अपने को उद्विग्न, अस्थिर, असंतुलित मत होने दो। जैसे सरदी, गरमी की परस्पर विरोधी ऋतुओं को हम प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं, उन ऋतुओं के दुष्प्रभाव से बचने के लिए वस्त्र, पंखा, अँगीठी, शरबत, चाय आदि की प्रतिरोधात्मक व्यवस्था कर लेते हैं, वैसे ही सुख-दुःख के अवसरों पर भी उनकी उत्तेजना पर शासन करने योग्य विवेक तथा कार्यक्रम की हमें व्यवस्था कर लेनी चाहिए। कमल सदा पानी में रहता है, पर उसके पत्ते जल से ऊपर ही रहते हैं, उसमें डूबते नहीं। इसी प्रकार साक्षी, द्रष्टा भाव में निर्लिप्त, अनासक्त एवं कर्मयोगी की विचारधारा अपनाकर हर परिस्थिति को, हर चढ़ाव-उतार को देखें और उसमें मिर्च तथा खटाई के कडुए-मीठे रसों का हँसते-हँसते रसास्वादन करें।

गायत्री का 'स्वः' शब्द बताता है कि इन हर्ष-शोक की बाल-क्रीड़ाओं में न उलझे रहकर हमें आत्म-परायण होना चाहिए, 'स्व' को पहचानना चाहिए। आत्म-चिंतन, आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव, आत्म-निष्ठा, आत्म-साधन, आत्म-उन्नति, आत्म-निर्णय ये वह कार्य हैं जिनमें इच्छा-शक्ति, कल्पना-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति का उपयोग होना

चाहिए, क्योंकि अंदर का मूल केंद्र, उद्गम स्रोत आत्मा ही है। जिसने आत्मा के साथ रमण करना सीख लिया, उसे स्वर्ग की अप्सराएँ भी चुड़ैलों जैसी तुच्छ एवं कुरूप दिखाई देने लगती हैं, क्योंकि आत्मा ही अनंत यौवन और अनंत सौंदर्य है। अपनेपन की, आत्मभाव की छाया पड़ते ही अपनी तुच्छ सी वस्तु, संतान, संपदा, देह कितनी सुंदर, कितनी प्रिय मालूम पड़ने लगती है कि उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता। जिसकी छाया पड़ने से जड़ वस्तुएँ इतनी मनोहर बन जाती हैं तो उस आत्मा की समग्र प्राप्ति में कितना सुख होगा? यह कल्पना से नहीं, अनुभव से ही जाना जा सकता है। अनंत वैभव का, ऐश्वर्य का, सुख-शांति का रत्न भंडार अपने अंदर है। जिसने उस खजाने पर अपना अधिकार कर लिया, उसके लिए चाँदी, ताँबे के टुकड़ों में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। आत्मप्राप्ति का लाभ इतना बड़ा है कि उसकी तुलना संसार के किसी आनंद से नहीं हो सकती। आत्मानंद, ब्रह्मानंद, परमानंद का सुख गूंगे के गुड़ की तरह है। संसार की कोई भी उपमा देकर उसके मिठास को बताया नहीं जा सकता।

आत्मस्थित मनुष्य का अंतस्थल स्वस्थ होने से वह सदा प्रसन्न रहता है। उसके चेहरे पर प्रसन्नता नाचती रहती है। चेहरा सदा मुस्कराता हुआ, हँसता हुआ, खिलखिलाता हुआ दिखाई देता है। उसकी वाणी से मधु टपकता रहता है और बोलने में फूल झड़ते हैं। स्नेह, आत्मीयता, नम्रता, सौजन्य एवं हित-कामना का सम्मिश्रण होते रहने से उसकी वाणी ही सरल एवं हृदयग्राही हो जाती है।

स्वस्थ आत्मा में स्थित व्यक्ति बालकों की तरह सरल, छलरहित, आत्मीयता, दया एवं सहानुभूतिपूर्ण होता है। वह किसी से नहीं कुढ़ता, न किसी का बुरा चाहता है। ईश्वर पर विश्वास होने से वह भविष्य के बारे में आशावादी और निर्भय रहता है। फलस्वरूप अप्रसन्नता उसके पास नहीं फटकती और आनंद एवं उल्लास से उसका अंतःकरण भरा रहता है। यह आनंदमयी स्थिति उसकी मुखाकृति एवं वाणी से हर घड़ी छलकती रहती है। गायत्री का 'स्वः' शब्द हमें ऐसी ही स्वस्थता की ओर ले जाता है। ❐

(तत्)

मृत्यु से मत डरिए

ततो वै निष्पत्तिः स भुवि मतिमान् पण्डितवरः,
विजानन् गुह्यं यो मरणजीवनयोस्तदखिलम्।
अनन्ते संसारे विचरति भयासक्तिरहितः,
तथा निर्माणं वै निजगतिविधीनां प्रकुरुते॥

गायत्री गीता के उपर्युक्त श्लोक में गायत्री मंत्र के प्रथम पद 'तत्' की विवेचना करते हुए बताया है—"इस संसार में वही बुद्धिमान है जो जीवन और मरण के रहस्य को जानता है, भय एवं आसक्तिरहित होकर जीता है और उसी आधार पर अपनी गति-विधियों का निर्माण करता है।"

देखा जाता है कि लोग जीवन से बहुत अधिक प्यार करते हैं और मृत्यु से बहुत डरते हैं। फाँसी घर की कोठरियों में रहने वाले कैदियों और असाध्य रोगों के निराश रोगियों से मिलते रहने के हमें अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। उनके अंतस्थल की दशा को,वेदना को समझ सकने के कारण हम यह जानते हैं कि लोग मृत्यु से कितना डरते हैं ? कभी खतरे की संभावना आवे, सिंह, व्याघ्र, सर्प, चोर, डाकू, भूत, अंधकार आदि का भय सामने आने पर प्राण-संकट अनुभव करके लोग थर-थर काँपने लगते हैं, होश-हवाश उड़ जाते हैं। मृत्यु चाहे प्रत्यक्ष रूप से सामने न हो पर उसकी कल्पनामात्र से इतना भय मालूम होता है, जो मृत्यु के वास्तविक कष्ट से किसी प्रकार कम नहीं होता।

प्राणों का भय सामने उपस्थित करने पर अधिकांश लोग अपने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व, धर्म, आचरण, गौरव आदि की तिलांजलि देने में नहीं झिझकते। हम ऐसे धर्म प्राण बनने वाले व्यक्तियों को जानते हैं जिन्होंने डॉक्टर द्वारा रोग को प्राण घातक बता देने पर शरीर जाने के भय से मांस, अंडे, मछली का तेल, मद्य आदि का सेवन किया। हमने

ऐसी घटनाएँ देखी हैं कि घर में अग्नि लगने पर अन्य साथियों की रक्षा की बात सोचे बिना केवल अपनी प्राण-रक्षा के लिए समर्थ लोग भाग निकले और असहाय, निर्बल, बाल, वृद्ध उसमें जल गए। पिछले भारत विभाजन के समय धर्मोन्माद से उन्मत्त लोगों द्वारा जो पैशाचिकताएँ बरती गईं उनका सबको पता है। उन घटनाओं के जो लोग समीप रहे हैं उन्हें मालूम है कि अत्याचारियों के चंगुल में फँसने पर कितनों ने ही अपने आत्म-गौरव, धर्म, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व आदि का बड़े से बड़ा अत्याचार अपनी आँख से देखते हुए भी प्राणभिक्षा के लिए गिड़गिड़ाते हुए आत्मार्पण किया। प्राण-संकट के समय लोग धर्म, कर्त्तव्य आदि की बात तो दूर रही, अपने स्त्री-बच्चों तक को दुर्दशायुक्त मृत्यु पाते देखते रहते हैं और अपने प्राण ले भागते हैं।

मृत्यु का भय साधारण भय नहीं है। अविकसित, क्षुद्र हृदय व्यक्ति तो उससे भयभीत रहते हैं। पर वे लोग जो अपने को सिद्धांतवादी, वीर, कर्त्तव्यपरायण और धर्मप्रेमी समझते हैं, परीक्षा का समय आने पर विचलित हो जाते हैं। जब एक ओर आदर्श दूसरी ओर प्राण-संकट की तुलना हो रही हो तो विरले ही मनुष्य ऐसे निकलते हैं जो खरे उतरें। महात्मा ईसा मसीह ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि—'हे प्रभु, हमें बुराइयों से बचा, पर परीक्षा में न डाल' क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य बड़ा डरपोक है। उसे शरीर से इतना अधिक मोह है कि प्राण-त्याग तो दूर, थोड़ा सा शारीरिक कष्ट, आर्थिक क्षति या इच्छापूर्ति में प्रतिरोध दिखाई पड़ता हो तो भी वह विचलित हो जाता है।

जीवन का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि निरंतर खतरे उपस्थित होते रहते हैं। निर्माण और विनाश दोनों ही एकदूसरे से प्रगाढ़ रूप से संबद्ध हैं। बीज गले बिना वृक्ष नहीं होता और फल टूटे बिना बीज नहीं बनता। नया जीवन धारण तब होता है जब किसी की मृत्यु होती है और मृत्यु तब होती है जब कोई जीवन नष्ट होता है। एक को धन तब मिलता है जब किसी के हाथ से वह धन निकलता है। जब समुद्र

सूखता है, तब बादल बनते हैं और जब बादल गलते हैं तो समुद्र भरता है। एक की हानि ही दूसरे का लाभ है। इस प्रकार के ज्वार-भाटे ही जीवन सौंदर्य के प्रतीक हैं। रात्रि और दिन की भांति सुख-दु:ख का, हानि-लाभ का भी जोड़ा है। जैसे सुख, शांति, लाभ, भोग, ऐश्वर्य प्राप्ति के अवसर आते रहते हैं, वैसे ही कर्म भोगों के अनुसार एवं परिस्थितियों के अनुसार रोग, हानि, संकट, क्लेश और मृत्यु के अवसर आना भी स्वाभाविक है। किंतु देखा जाता है, कि लोग सुखकर अवसरों का तो प्रसन्नतापूर्वक उपभोग कर लेते हैं पर जब दु:ख का अवसर आता है तो बेतरह रोते, चिल्लाते, डरते, काँपते, भयभीत होते रहते हैं।

विनाशात्मक परिस्थितियाँ हर एक के जीवन में रहती हैं क्योंकि वे आवश्यक, स्वाभाविक, सृष्टिक्रम के अनुकूल एवं अनिवार्य हैं। परंतु लोग उनसे बुरी तरह डरते हैं। विपत्ति आने पर तो डरते ही हैं, पर अनेक बार विपत्ति की आशंका, संभावना, कल्पना मात्र से भयभीत होते रहते हैं। इस प्रकार जीवन का अधिकांश भाग घबराहट और दु:ख में व्यतीत होता है। यहाँ यह आश्चर्य होता है कि विनाश जब जीवन का एक स्वाभाविक एवं अनिवार्य अंग है तो लोग उससे इस प्रकार डरते क्यों हैं कि धनी, निर्धन, संपन्न और विपन्न सभी का जीवन असंतोष, अतृप्ति, खिन्नता, चिंता, निराशा आदि से भरा रहता है। पूर्ण सुखी मनुष्य ढूँढ़ निकालना आज असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है।

विघटनात्मक, विनाशात्मक स्थितियों से डरने, घबराने का कारण मनुष्य की एक आध्यात्मिक भूल है। वह भूल यह है कि वह शरीर को ही 'मैं' मान बैठता है, अपने आप को शरीर समझने के फलस्वरूप आत्मलाभ, आत्मानंद, आत्मरक्षा, आत्मपरायणता, आत्मप्रतिष्ठा जैसी वृत्तियाँ दूसरे ही रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। उनका स्वरूप शरीर लाभ, शारीरिक आनंद, शरीर-रक्षा, शरीर-परायणता, शरीर-प्रतिष्ठा बन जाता है। चूंकि आत्मलाभ अंत:करण का ईश्वरप्रदत्त गुण है, जिस ओर जीव की स्वाभाविक रुचि होती है, उसी में उसे आनंद आता है

और उसी में विक्षेप पड़ने से दुःख होता है। संत, महात्मा, ब्रह्मवेत्ता, ऋषि, मुनि, सज्जन, लोकसेवी, सत्पुरुष, इसी मार्ग पर चलते हैं और जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए सदा आनंद निमग्न रहते हैं। परंतु जब आत्मलाभ की परिभाषा शरीर-लाभ हो जाती है,जब आत्मरक्षा का तात्पर्य शरीर-रक्षा समझा जाता है तो वहीं अज्ञान की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें आज जनसाधारण ग्रस्त हो रहा है।

स्वार्थ मनुष्य की सर्वप्रिय वस्तु है। अपनापन सबको प्यारा है। संसार का जो भी पदार्थ प्रिय लगता है, वह अपनेपन की भावना के कारण ही प्रिय लगता है। शत्रु की सुंदर-सुंदर चीजें भी आँखों में काँटे की तरह चुभती हैं। जब शरीर को 'स्वः' मान लिया गया तो उसके नष्ट होने का भय आत्मनाश के समान ही मानना चाहिए। जब शरीर ही 'स्व' है तो शारीरिक इंद्रियों के भोग-विलासों को आत्मानंद समझा ही जाना चाहिए। शरीर की सुंदरता, आकर्षण, मोहकता वैसी ही प्रिय मालूम होनी चाहिए जैसी कि आत्मप्रतिष्ठा प्रिय होती है। आत्मानंद के लिए बड़ी से बड़ी वस्तु का त्याग करना, बड़े से बड़ा कष्ट सहना, आत्मपरायण पुरुषों के लिए साधारण बात है। वैसे ही शरीरपरायण लोगों के लिए सांसारिक सुख के लिए धर्म, कर्त्तव्य आदि छोड़ देना और हत्या-डकैती आदि खतरे से भरे हुए दुस्सहासी कार्य कर डालना साधारण बात होती है। यदि कोई आदमी शरीर को ही 'मैं' मानता है, उसमें ही 'स्व' अनुभव करता है, उसके लिए यह उचित ही है कि शरीर को सुखी बनाने वाली वस्तुओं और परिस्थितियों में सुखी रहे, उनके लिए प्रयत्न करे और इस मार्ग में जो बाधा उपस्थित हो उसमें दुखी एवं भयभीत हो। इस स्थिति में मृत्यु और हानि का भय यदि बुरी तरह संत्रस्त बनाए रहे तो उसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

परमात्मा को सत्-चित्-आनंद सच्चिदानंद कहते हैं। उसका अंश आत्मा स्वभावतः आनंदमय है। उसमें आनंद की कोई कमी नहीं।

यह संसार परमात्मा की पुण्य कृति है। आनंद रूप परमात्मा के हाथ से बना हुआ संसार आनंदरहित नहीं हो सकता। जीवन का अर्थ है— 'जीव और प्रकृति के सम्मिलन की, आलिंगन की पुण्य बेला'। इन क्षणों में आनंदमय आत्मा और आनंद कृति संसार के उभयपक्षीय आनंदों का मिलन होने से अपार आनंद उमड़ पड़ना चाहिए। स्त्री और पुरुष के समागम का आनंद बड़ा आकर्षक है। आत्मा और प्रकृति के समन्वय का नाम ही जीवन है। जीवन इतना आनंदमय, इतना आकर्षक, इतना उल्लासमय, इतना सरस है कि उसका आस्वादन करने के लिए ही तो जीव संसार में बार-बार आता है, बार-बार जन्म लेता है। यदि ऐसी बात न होती, यदि वस्तुतः जीवन का मूल रूप दुःख, भय, चिंता, क्लेशमय होता तो निश्चय ही परमात्मा का अमर युवराज, आत्मा, उसे ग्रहण करने को कदापि तैयार नहीं होता।

आनंद का रसास्वादन करने के लिए प्राप्त हुआ जीवन आज कितने कम लोगों के लिए आनंदमय रह गया है, यह आश्चर्य की बात है। इसी प्रकार यह बात हैरत में डालने वाली है कि कितने अधिक लोग अपनी जिंदगी के दिन असंतोष, भय, निराशा और उदासीनता के साथ व्यतीत करते रहते हैं। यह भूल-भुलैया, यह माया-बंधन, आत्मा के लिए कितना उलझन भरा है, कितना मर्मभेदी है, इस तथ्य को समझकर हमारा शास्त्र हमें इस खतरे से आगाह कर देता है। गायत्री मंत्र के प्रथम पद में 'तत्' शब्द में इसी अंधकारमय विभीषका पर प्रकाश डाला गया है। इसी परदे को उठाकर सचाई के दर्शन कराए गए हैं। गायत्री गीता के अनुसार 'तत्' शब्द हमें बताता है कि जीवन और मरण के रहस्य को समझो, भय और आसक्तिरहित होकर जियो और वास्तविकता के सुदृढ़ आधार पर अपनी गतिविधियों का निर्माण करो।

मरने से डरना क्या?

मृत्यु से डरने की कोई बात नहीं। जैसे नया वस्त्र पहनने में, नई जगह जाने में स्वभावतः एक प्रसन्नता होती है वैसी ही प्रसन्नता मृत्यु

के संबंध में भी होनी चाहिए। आत्मा एक यात्री के समान है। उसे विविध स्थानों, व्यक्तियों, परिस्थितियों के साथ संबंध स्थापित करते हुए वैसी ही प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि सैर-सपाटा करने के लिए निकले हुए सैलानी लोगों को होती है।

मरने से डरने का कारण हमारा अज्ञान है। परमात्मा के इस सुंदर उपवन में एक से एक मनोहर वस्तुएँ हैं। यह यात्रियों के मनोरंजन की सुव्यवस्था है, पर वह यात्री जो इन दर्शनीय वस्तुओं को अपनी मान बैठता है, उन पर स्वामित्व प्रकट करता है, उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, अपनी मूर्खता के कारण दुःख का ही अधिकारी होगा। इस संसार का हर पदार्थ, हर परमाणु तेजी के साथ बदल रहा है। इस गतिशीलता का नाम ही जीवन है। यदि वस्तुओं का उत्पादन, विकास और विनाश का क्रम टूट जाए तो यह संसार एक निर्जीव जड़ पदार्थ बनकर रह जाएगा। यदि इसे आगे चलते रहना है तो निश्चय ही उत्पादन, परिवर्तन और नाशक्रम अनिवार्यतः जारी रहेगा। शरीर चाहे हमारा अपना हो, अपने प्रियजन का हो, उदासीन का हो या शत्रु का हो, निश्चय ही परिवर्तन और मृत्यु को प्राप्त होगा। जब, जिस समय चाहें तभी वे शरीर नष्ट हों ऐसा नहीं हो सकता। प्रकृति के परिवर्तन, कर्म-बंधन, ईश्वरीय इच्छा ही प्रधान हैं, इनके आगे हमारी इच्छा चल नहीं सकती। जिसे जब मरना है, वह मर ही जाएगा, हम उसे रोक नहीं सकते। इस जीवन-मृत्यु के अटल नियम को न जानने के कारण ही मृत्यु जैसी अत्यंत साधारण घटना के लिए हम रोते, चिल्लाते, छाती कूटते, भयभीत होते और दुःख मानते हैं।

जिसे जीवन का वास्तविक स्वरूप मालूम हो गया है, उसे न अपनी मृत्यु में कोई दुःख की बात प्रतीत होती है और न दूसरों की मृत्यु का कष्ट होता है। किसी विशाल नगर के प्रमुख चौराहे पर खड़ा हुआ व्यक्ति देखता है कि प्रति क्षण असंख्यों व्यक्ति अपने-अपने कार्यक्रम के अनुसार इधर से उधर आते-जाते हैं। वह स्वयं भी कहीं से आया है

और कहीं जा रहा है, केवल कुछ क्षण के लिए चौराहे का कुतूहल देख रहा है। इस अपने या दूसरों के आवागमन पर यदि यह व्यक्ति दुःख माने, रुदन या विलाप करे तो उसे अविवेकी ही कहा जाएगा। संसार के विशाल चौराहे पर भी ऐसे ही आवागमन की भीड़ लग रही है। एक की मृत्यु ही दूसरे का जन्म है, एक का जन्म दूसरे की मृत्यु है, एक का सुख दूसरे का दुःख है और दूसरे का दुःख एक का हर्ष। यह आँखमिचौनी, यह भूल-भुलैया, विवेकवानों के लिए चित्ताकर्षक, विनोदमयी क्रीड़ा है, पर बालबुद्धि के व्यक्ति इसमें उलझ जाते हैं और इस कुतूहल को कोई महान आपत्ति मानकर सिर धुनते, रोते-चिल्लाते और पश्चात्ताप करते हैं।

मृत्यु के दुःख में शरीरों का नष्ट होना कारण नहीं वरन जीवन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी न होना ही कारण है। ऐसे कितने ही बलिदानी, वीर हुए हैं जो फाँसी की कोठरी में रहते हुए दिन-दिन अधिक मोटे होते गए, वजन बढ़ता गया और फाँसी के फंदे को अपने हाथों गले से लगाया तथा खुशी के गीत गाते हुए मृत्यु के तख्ते पर झूल गए। कवि 'गंग' को जब मृत्युदंड दिया गया और जिस समय उन्हें पैरों तले कुचल डालने को खूनी हाथी छोड़ा गया तो वे प्रसन्नता से फूल उठे और उन्होंने कल्पना की कि देवताओं की सभा में कोई छंद बनाने वाले की आवश्यकता हुई है, इसलिए मुझ कवि गंग को लेने के लिए हाथी रूपी गणेश आए हैं। कितने ही महात्मा समाधि लेकर अपना शरीर त्याग देते हैं। उन्हें मरने में कोई अनोखी बात दिखाई नहीं पड़ती।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मरते समय भारी कष्ट होता है, इसलिए उस कष्ट की पीड़ा से डरते हैं। यह भी मृत्यु समय की वस्तुस्थिति से जानकारी न होने के कारण है। आमतौर से लोग मृत्यु से कुछ समय पूर्व बीमार रहते हैं। बीमारी में जीवनीशक्ति घटती है और इंद्रियों की चेतना शिथिल होकर ज्ञान-तंतु संज्ञा शून्य होते जाते हैं, फलस्वरूप दुःख की

अनुभूति पूरी तरह नहीं हो पाती। प्रसूता स्त्रियाँ या लंघन के रोगी गरमी की ऋतु में रात को भी अकसर बंद घरों में सोते हैं, पर उन्हें गरमी का वैसा कष्ट नहीं होता जैसा कि स्वस्थ मनुष्य को होता है। स्वस्थ मनुष्य रात को बंद कमरे में नहीं सो सकता, पर रोगी सो जाता है। कारण यह है कि रोगी के ज्ञानतंतु शिथिल हो जाने के कारण गरमी अनुभव करने की शक्ति मंद पड़ जाती है। रोगियों को स्वाद का भी ठीक-ठीक अनुभव नहीं होता, स्वादिष्ट चीजें भी कड़ुई लगती हैं, क्योंकि जिह्वा के ज्ञानतंतु निर्बल पड़ जाते हैं। रोगजन्य निर्बलता धीरे-धीरे इतनी बढ़ जाती है कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व मनुष्य संज्ञा-शून्य हो जाता है और बिना किसी कष्ट के उसके प्राण निकल जाते हैं। जो कुछ कष्ट मिलना होता है रोग-काल में ही मिल जाता है। डॉक्टर लोग जब कोई बड़ा ऑपरेशन करते हैं तो रोगी को क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर देते हैं ताकि उसे कष्ट न हो। दयालु परमात्मा भी आत्मा से शरीर को अलग करने का आपरेशन करते समय संज्ञाशून्यता का क्लोरोफार्म सुँघा देता है ताकि हमें मृत्यु का कष्ट न हो।

यह सभी जानते हैं कि कोई रोगी जब मरने को होता है तो मृत्यु से कुछ समय पूर्व उसकी बीमारी कम हो जाती है। कष्ट घट जाता है, तब अनुभवी चिकित्सक समझ जाते हैं कि अब रोगी का अंत समय आ गया। कारण यह है कि बीमारी के कारण रोगी की जीवनीशक्ति चुक जाती है और ज्ञानतंतु रोग को प्रकट करने एवं कष्ट अनुभव करने में असमर्थ हो जाते हैं। यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि गर्भकाल में, माता के उदर में और मृत्यु के समय प्राणी को अधिक कष्ट होता है। दोनों ही दशाओं में मस्तिष्क अचेतन अवस्था में और ज्ञान-तंतु संज्ञाशून्य अवस्था में रहने के कारण प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। ऐसी दशा में मृत्यु के कष्ट से डरने का कोई कारण नहीं रह जाता।

अनावश्यक मोह-ममता ही मृत्यु-भय का प्रधान कारण है। हम कर्त्तव्य से प्रेम की अपेक्षा वस्तुओं से मोह करने लगते हैं। हमारा प्रेम,

कर्त्तव्य भावना में संलग्न न रहकर शरीर, संपत्ति आदि में लग जाता है। प्रिय वस्तु के हाथ में जाने में कष्ट होता ही है, इसलिए मरने का भी दुःख होता है। यदि आरंभ से ही यह मानकर चला जाए कि हमारे अधिकार या संबंध में जो भी पदार्थ हैं, वे प्रकृति के परिवर्तन-धर्म के कारण किसी भी समय बदल, बिगड़ या नष्ट हो सकते हैं तो उनसे अनावश्यक मोह-ममता जोड़ने की भूल न हो। तब मनुष्य यह सोचेगा कि संसार में सबसे अधिक प्रिय, सबसे अधिक आत्मीय, सबसे अधिक लाभदायक अपना 'कर्त्तव्य' है, उसी से पूरा-पूरा प्रेम किया जाए। प्रेम को जितना अधिक बढ़ाया जा सके बढ़ाया जाए, इस प्रेम से जहाँ रत्तीभर भी विछोह हो वहाँ दुःख माना जाए तो यह प्रेम अनंत सुख-शांति को देने वाला और कभी नष्ट न होने वाला बन जाएगा। जो कर्त्तव्यपालन को अपना लाभ समझेगा उसे हानि का दुःख न उठाना पड़ेगा। कारण यह है कि अपना प्रेमी 'कर्त्तव्य' सदा अपने साथ है, उसे कोई भी शक्ति, हमारी इच्छा के विपरीत हमसे नहीं छीन सकती। इसी प्रकार जब हमारे लाभ का केंद्र बिंदु हमारा 'कर्त्तव्य' है तो उसमें घाटा पहुँचाने वाला हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। हमारा प्रेम और लाभ जब पूर्णतया हमारे हाथ में है, तब विछोह या हानिजन्य दुःखों के सामने आने का कोई कारण नहीं रह जाता। दूसरों की मृत्यु, प्रेमियों और पदार्थों की मृत्यु का दुःख हमसे तभी दूर रह सकता है जब हम मिथ्या मोह-ममता को छोड़कर कर्त्तव्य से प्रेम करना और उसी को अपनी संपत्ति समझने का विवेक हृदयंगम कर लें।

अपनी मृत्यु में दुःख भी इसी बात का होता है कि जीवन जैसे बहुमूल्य पदार्थ का सदुपयोग नहीं किया गया है। आलस्यवश देर में स्टेशन पहुँचने पर जब रेल निकल जाती है और उस दिन नियत स्थान पर न पहुँच सकने के कारण जो भारी क्षति हुई उसका विचार कर-करके वह आलसी मनुष्य स्टेशन पर खड़ा हुआ पछताता है और अपने आप को कोसता है। मृत्यु के समय भी ऐसा ही पश्चात्ताप होता है, जब

कि मनुष्य देखता है कि मानव जीवन जैसी बहुमूल्य संपत्ति को मैंने व्यर्थ ही बातों में गँवा दिया, उसका सदुपयोग नहीं किया, उससे जितना लाभ उठाना चाहिए था वह नहीं उठाया। यदि हम जीवन के क्षणों का सदुपयोग करें, उसकी हर एक घड़ी को केवल आत्मलाभ के सच्चे स्वार्थ के लिए लगावें तो चाहे आजकल जब भी मृत्यु सामने आवेगी किसी प्रकार का पश्चात्ताप या दु:ख न करना पड़ेगा।

गायत्री का आरंभिक पद 'तत्' हमें यही शिक्षा देता है कि मृत्यु से डरो मत, उससे डरने की कोई बात नहीं। डरने की बात है हमारा गलत दृष्टिकोण, गलत कार्यक्रम। यदि हम अपने कर्त्तव्य पर प्रतिक्षण सजगतापूर्वक आरूढ़ रहें तो न हमारी न किसी दूसरे की मृत्यु हमारे लिए कष्टकारक होगी।

❐

सवितुः

शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनिए

सवितुस्तु पदं वितनोति ध्रुवं, मनुजो बलवान् सवितेव भवेत्।
विषया अनुभूतिपरिस्थितयः, तु सदात्मन एव गणेदिति सः॥

अर्थ—गायत्री का 'सविता' पद यह बतलाता है कि मनुष्य को सूर्य के समान बलवान होना चाहिए और 'सभी विषयों की अनुभूतियाँ तथा परिस्थितियाँ अपने अंदर हैं' ऐसा मानना चाहिए।

परिस्थितियों का जन्मदाता मनुष्य स्वयं है। हर मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है। कर्मरेख, भाग्य, तकदीर, ईश्वर की इच्छा, ग्रहदशा, दैवी आपत्ति, आकस्मिक लाभ आदि की विलक्षणता देखकर कई आदमी भ्रमित हो जाते हैं, वे सोचते हैं कि ईश्वर की जो मरजी होगी, करम में जो लिखा होगा वह होगा। हमारे प्रयत्न या पुरुषार्थ से प्रारब्ध को बदला नहीं जा सकता, इसलिए कर्त्तव्यपालन या श्रम करने की अपेक्षा चुप बैठ रहना या देवी-देवताओं की मनौती मानना ठीक है। ऐसे आदमी यह भूल जाते हैं कि भाग्य, प्रारब्ध, ईश्वरेच्छा आदि की अदृश्य शक्तियाँ खुशामद या पक्षपात पर आधारित नहीं हैं कि जिस पर प्रसन्न हो जाएँ उसे चाहें जो दे दें और जिस पर नाराज हो जाएँ उससे बदला लेने के लिए उस पर आपत्तियों का पहाड़ पटक दें।

हर व्यक्ति अपने गज से दूसरों को नापता है। हम स्वयं पक्षपाती, खुशामद पसंद, रिश्वती, पूजाकांक्षी,बदले की भावना से भरे हुए होते हैं। इसलिए सोचते हैं कि अदृश्य शक्तियों को भी ऐसा ही होना चाहिए। पर यह अनुमान सत्य नहीं है। सत्य यह है कि ईश्वर पूर्णतया निष्पक्ष है, वह हर प्राणी को समान दृष्टि से देखता है, जिसका जैसा प्रयत्न और पुरुषार्थ है, पाप पुण्य है, उसी के अनुसार उसे सुख-दुःख देने की न्यायमूर्ति न्यायाधीश की भाँति व्यवस्था कर देता है। प्रारब्ध

कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। हमारा कल का पुरुषार्थ आज प्रारब्ध बन जाता है। रात को जमाया हुआ दूध सवेरे दही बन जाता है। दूध और दही के नाम-रूप में फरक है, यद्यपि दोनों ही वस्तुएँ वस्तुतः एक हैं। पुरुषार्थ और प्रारब्ध यद्यपि दो अलग-अलग वस्तुएँ प्रतीत होती हैं, पर वस्तुतः वे एक हैं। हरा खट्टा आम जो पाल में लगा दिया जाता है तो कुछ दिन बाद वह पीला-पका मीठा आम बन जाता है। समय के परिपाक से वह परिवर्तन हो गया, फिर भी वह आम एक ही है। पुरुषार्थ और प्रयत्न का भेद भी ऐसा अवास्तविक है। इसी जन्म के या पिछले जन्म के कुछ कर्म परिपाक का समय लेकर जब अनायास प्रकट होते हैं, तब उन्हें प्रारब्ध कह दिया जाता है। यह प्रारब्ध किसी दूसरे की कृपा या रोष का परिणाम नहीं, अपितु निश्चित रूप से हमारे अपने भूतकाल के कर्मों का फल है। इस प्रकार हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता ठहरते हैं, भले ही यह निर्माण हमने निकट भूतकाल में किया हो या सुदूर भूतकाल में।

संसार दर्पण के समान है। जैसे कुछ हम स्वयं हैं, वैसा ही हमारा संसार है। कहते हैं कि हर आदमी की दुनिया अलग है। यह ठीक भी है, जैसा वह स्वयं है वैसी उसकी दुनिया होगी। जो मनुष्य क्रोधी है उसका सबसे झगड़ा होगा; फलस्वरूप उसे सारी दुनिया झगड़ालू मालूम पड़ेगी। बेईमान, चोर, ठग और दुष्ट प्रकृति के मनुष्य दूसरों को अपने ही जैसा समझते हैं और दूसरों पर तरह-तरह के आक्षेप लगाया करते हैं। आलसी, दरिद्र, ओछी प्रकृति के लोग अपने आस-पास के लोगों पर तरह-तरह के दोषारोपण करते हैं कि वे उन्हें उठने नहीं देते, बढ़ने नहीं देते, रोकते हैं, सताते हैं। सच बात यह है कि संसार का व्यवहार कुएँ की आवाज की तरह है। पक्के कुएँ में मुँह करके जैसी आवाज हम करते हैं, ठीक वैसे ही शब्दों की प्रतिध्वनि वापस लौट आती है। जो प्रशंसा योग्य है उसे प्रशंसा प्राप्त होती है, जो सहायता का अधिकारी है उसे सहायता मिलती है, जो आदर का पात्र है उसे आदर

मिलता है और जो निंदा, घृणा, तिरस्कार, अपमान और दंड का पात्र है उसे यह वस्तुएँ जहाँ भी जाएगा वहीं पहले से ही तैयार रखी हुई मिलेंगी।

संसार में बुरे तत्त्व बहुत हैं, पर अच्छे तत्त्व उनसे भी अधिक हैं। ऐसा न होता तो कोई आत्मा यहाँ रहने को तैयार न होती। जो गुणवान हैं, शक्तिवान हैं, विचारवान हैं, सहृदय और उदार हैं, उन्हें निश्चित रूप से अपना भाग्य उत्तम मिलेगा। मनस्वी इमर्सन कहा करते थे कि मुझे नरक में रखा जाए तो मैं वहाँ भी अपने सद्‌गुणों के कारण स्वर्ग बना लूँगा। जो बुरे आदमी हैं, वे स्वर्ग में रहकर भी नरक की यातना भोगेंगे। कितने ही अमीर चिंताओं की ज्वालाओं में जलते रहते हैं और कितने ही गरीब स्वर्गीय सुख में दिन काटते हैं। अमेरिका का धनकुबेर हेनरी फोर्ट धन की लिप्सा में अपनी पाचनशक्ति गँवा बैठा था। वह जब अपने सुविस्तृत कारखानों के मजदूरों को मोटी रोटी खाते देखता था तो वह कहता था कि इन मजदूरों के भाग्य पर मुझे ईर्ष्या होती है। वह हाथ मलता था कि हे ईश्वर! काश मैं हेनरी न होकर बलवान पाचनशक्ति वाला मजदूर होता है तो कितना सुखी होता।

फोर्ट के उदाहरण से यह भली प्रकार समझ में आ जाता है कि अमीरी ही मनुष्य को सुखी नहीं बना सकती। सुखी बनने की क्षमता 'शक्ति' में है। शक्ति ही वास्तविक संपत्ति है। इस संपत्ति के बदले में हम जो भी वस्तु चाहें प्राप्त कर सकते हैं। जिसकी पाचनशक्ति ठीक है उसे नमक की रोटी में कचौड़ी का आनंद आवेगा। जिसका पेट दुर्बल है उसे बहुमूल्य स्वादिष्ट पदार्थ भी कड़ुए लगेंगे और हानिकारक सिद्ध होंगे। पुंसत्व शिथिल हो जाने पर इंद्र की अप्सरा भी कुरूप लगती है और बल-वीर्य से परिपुष्ट होने पर कुरूप दंपत्ति भी सरस जीवन का रसास्वादन करते हैं। सौंदर्य को देखकर वही आनंद अनुभव कर सकता है जिसके नेत्र सक्षम हैं। मधुर ध्वनियाँ वही सुन सकेगा, जिसके कान

सक्रिय हैं। आँख और कान की शक्ति नष्ट हो जाए तो समझिए कि सारा संसार अंधकार और स्तब्धतामय ही हो गया।

(१)शरीरबल, (२) बुद्धिबल, (३) विद्याबल, (४) धनबल, (५) संगठनबल, (६), चरित्रबल, (७) आत्मबल; यह सात बल जीवन को प्रकाशित, प्रतिष्ठित, संपन्न और सुस्थिर बनाने के लिए आवश्यक हैं। सविता सूर्य के रथ में सप्त अश्व जुते हुए हैं। सविता की सात रंग की किरणें होती हैं, जो इंद्रधनुष में तथा बिल्लौरी काँच में देखी जा सकती हैं। गायत्री का सविता पद हमें आदेश करता है कि हम भी सूर्य के समान तेजस्वी बनें और अपने जीवन-रथ को चलाने के लिए उपर्युक्त सातों बलों को घोड़े के समान जुता हुआ रखें। जीवन रथ इतना भारी है कि एक-दो घोड़े से ही उसे नहीं चला सकते, जीवन की गतिविधि ठीक रखनी है तो उसे खींचने के लिए सात अश्व, सात बल जोतने पड़ेंगे।

(१) स्वस्थ शरीर, (२) अनुभव, विवेक, दूरदर्शितापूर्ण व्यवहार बुद्धि (३) विशाल अध्ययन, श्रवण-मनन और सत्संग द्वारा सुविकसित किया हुआ मस्तिष्क, (४) जीवनोपयोगी साधन-सामग्रियों का समुचित मात्रा में संचय, (५) सच्चे मित्रों, बांधवों एवं सहयोगियों की अधिकता, (६) ईमानदारी, मधुरता, परिश्रमशीलता, आत्मसम्मान की रक्षा, सद्व्यवहार, उदारता जैसे गुणों से परिपूर्ण उत्तम चरित्र, (७) ईश्वर और धर्म में सुदृढ़ आस्था, आत्मज्ञान, कर्मयोगी दृष्टिकोण, निर्भय मनोभूमि, सतोगुणी विचार-व्यवहार, परमार्थपरायणता, यह सात प्रकार के बल प्रत्येक मनुष्य के लिए अतीव आवश्यक हैं। इन सबका साथ-साथ संतुलित विकास होना चाहिए। स्वादिष्ट भोजन वह है जिसमें नमक, मसाला, घी, मीठा, आटा, बेसन, मावा आदि संतुलित मात्रा में हों। यदि इनमें से कोई बहुत ज्यादा और कोई बहुत कम होगा तो भोजन चाहे कितने ही श्रम से क्यों न बनाया गया हो, वह असंतुलित होने के कारण अखाद्य बन जाएगा। शरीर का कोई अंग बहुत मोटा और कोई

बहुत पतला रह जाए तो ऐसा असंतुलित शरीर रोगी ही समझा जाएगा। इसी प्रकार यह सातों बल उचित मात्रा में संचय करना चाहिए।

जो धनी तो बहुत है पर दुर्बल हो रहा है, जो स्वस्थ तो काफी है पर मूर्ख है, जो विद्वान तो बहुत बड़ा है पर चरित्रभ्रष्ट है, जो चतुर तो बहुत है पर नास्तिक, दुष्ट और अधर्मी है, जो उच्च पद पर तो है पर कोई सच्चा मित्र नहीं, ऐसे लोग अधूरे हैं। एकांगी उन्नति चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो किसी को सच्चे अर्थों में सुखी नहीं बना सकती। जो लोग केवल धन कमाने के पीछे पड़े हैं और शरीर विद्या, मैत्र चरित्र आदि बलों की उन्नति नहीं कर रहे हैं, वे यह भूल करते हैं। केवल अकेले धन का ही होना ऐसा है जैसे दसों इंद्रियों में केवल एक इंद्रिय का जीवित तथा अन्य सब का निर्जीव होना। सप्ताह में एक दिन बढ़िया भोजन मिले और छह दिन भूखा रहना पड़े तो वह कोई आनंद की बात न होगी। चाहे रूखा-सूखा भोजन मिले पर सातों दिन मिले तभी काम चल सकता है। इसी प्रकार सातों बलों का संतुलित विकास होना ही जीवन को सुख-शांतिमय बना सकता है।

गायत्री का 'सवितु' पद हमें उपदेश करता है कि सूर्य के समान तेजस्वी बनो, सप्त अश्वों को, सप्त बलों को अपने जीवन-रथ में जुता रखो। सूर्य केंद्र है और अन्य समस्त ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं, वैसे ही तुम भी अपने को कर्त्ता-केंद्र और निर्माता मानो। परिस्थितियाँ, वस्तुएँ, घटनाएँ तो हमारी परिक्रमा मात्र करती हैं। जैसे परिक्रमा करने वाले ग्रह, सूर्य को प्रभावित नहीं करते वैसे ही कोई परिस्थिति हमें प्रभावित नहीं करती। अपने भाग्य के, अपनी परिस्थितियों के निर्माता हम स्वयं हैं। अपनी क्षमता के आधार पर अपनी हर एक इच्छा और आवश्यकता को पूरा करने में हम पूर्ण समर्थ हैं। गायत्री माता हम बालकों को गोदी में लेकर उँगली के संकेत से सविता को दिखाती हैं, और समझाती हैं कि मेरे बालको, सविता बनो, सविता का अनुसरण करो। ❐

(वरेण्यं)

अच्छाई को ही ग्रहण कीजिए

वरेण्यञ्चैतद्वै प्रकटयति श्रेष्ठत्वमनिशम्,
सदा पश्येच्छ्रेष्टं मननमपि श्रेष्ठस्य विदधेत्।
तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत्,
तदेत्थं श्रेष्ठत्वं व्रजति मनुजः शोभितगुणैः॥

अर्थ—'वरेण्यं' शब्द प्रकट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिए, श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिंतन करना, श्रेष्ठ विचारना और श्रेष्ठ कार्य करना, इस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त होता है।

दुनिया को दुरंगी कहा जाता है। इसमें भले और बुरे दोनों ही तत्त्व हैं। पाप-पुण्य का, सुख-दुःख का, उन्नति-अवनति का, प्रकाश-अंधकार का युग्म सर्वत्र उपस्थित रहता है। इन युग्मों में से केवल वही पक्ष ग्रहण करना चाहिए जो हमारे लिए हितकर है। एक ओर नीचता, विलासता, शैतानी, दुराचार, स्वार्थपरता का निकृष्ट मार्ग है, दूसरी ओर आत्मगौरव, सदाचार, महानता, परमार्थ का श्रेष्ठ मार्ग है। गायत्री मंत्र का 'वरेण्यं' शब्द बताता है कि इन दो मार्गों में से श्रेष्ठता का मार्ग ही कल्याणकारक है।

कितने ही व्यक्ति अशुभ चिंतक होते हैं। उनकी विचारधारा बहुधा अनिष्ट की दिशा में प्रवाहित होती रहती है। दूसरे उन्हें सताते हैं, बुराई करते हैं, शत्रुता रखते हैं, हानि पहुँचाते हैं, स्वार्थ के कारण ही संबंध रखते हैं, ऐसी मान्यता बनाकर वे दूसरों की शिकायत ही किया करते हैं। भाग्य उलटा है, ईश्वर का कोप है, ग्रहदशा खराब है—ऐसा सोचकर वे अपने भविष्य को निराशा, चिंता, भय से ओत-प्रोत देखा करते हैं। भोजन को स्वादरहित, घर वालों को अवज्ञाकारी, कर्मचारियों को चोर, मित्रों को मूर्ख, परिचितों को दुर्गुणी समझकर वे सदा निंदा,

आक्षेप, व्यंग्य झुँझलाहट प्रकट करते रहते हैं। ऐसे लोग चाहे कितनी ही अच्छी स्थिति में क्यों न रहें, उन्हें सदा दुर्भाग्य एवं असंतोष ही सामने खड़ा दिखाई देगा, उनके चित्त को क्षुभित करने के कोई न कोई कारण उपस्थित होते ही रहेंगे और उन्हें दुर्भाग्यपूर्ण, दुखी जीवन जीना पड़ेगा। कोई सुअवसर उन्हें सुखी नहीं बना सकता, स्वर्ग भेज दिया जाए तो वहाँ भी कुछ छिद्रान्वेषण करते रहेंगे, किसी न किसी बात पर नाक-भौं सिकोड़ते रहेंगे।

इस स्थिति का कारण उस व्यक्ति का अशुभ चिंतन ही है। हरा ऐनक आँख पर चढ़ा लेने से हर चीज हरी दिखाई पड़ती है। अशुभ दृष्टिकोण को, अनिष्ट चिंतन को अपना लेना एक ऐसी ही रंगीन ऐनक चढ़ा लेना है जिसके कारण सारे संबंद्ध पदार्थ और मनुष्य बुरे, अनुपयुक्त एवं कष्टदायक दीखने लगते हैं। इस मानसिक कष्ट से छुटकारा उन्हें मिल नहीं सकता क्योंकि जिन पदार्थों, परिस्थितियों और मनुष्यों से उन्हें काम पड़ता है उन्हें बदल दिया जाए, उनके स्थान पर नवीनता उपस्थित कर दी जाए तो भी संतोष नहीं हो सकता, कारण कि संसार का कोई भी पदार्थ, स्थिति अथवा मनुष्य ऐसा नहीं है जो पूर्णतया निर्दोष हो, नाक-भौं सिकोड़ने के लिए उसका भी कुछ न कुछ कारण निकल ही आएगा।

हमारे अनेकों मानसिक कष्ट इसी प्रकार अशुभ चिंतन के परिणाम होते हैं। बहुत ही साधारण सी कठिनाइयाँ पहाड़ सी दुर्गम दिखाई पड़ती हैं। भविष्य में किसी कष्ट के आने और उसके असह्य होने की कल्पना करके कितने ही मनुष्य आत्महत्या तक कर लेते हैं। जो लोग जेल को बड़ी भारी यंत्रणा समझ कर उसके डर से थर-थर काँपते थे, वे जब जेल गए तो उन्होंने देखा कि वहाँ भी साधारण दैनिक जीवन जैसी ही गतिविधि रहती है और बड़ी आसानी से समय गुजर जाता है। आरंभ में अनाथों, विधवाओं, आपत्तिग्रस्तों को ऐसा लगता है कि न जाने हमारे ऊपर अब क्या बीतेगी, पर ईश्वर की ऐसी लीला है कि

सभी को अपनी जीवनयात्रा चलाने का कोई न कोई मार्ग मिल जाता है और यों ही हँसते-खेलते वे बुरे दिनों को निकाल देते हैं। अपनी अशुभ चिंतक वृत्ति के कारण मनुष्य जितना दुखी रहता है, उसका सौवाँ भाग भी वास्तविक कष्ट उसे प्राप्त नहीं होता।

इसलिए गायत्री के 'वरेण्यं' शब्द का संदेश है कि अशुभ चिंतन को छोड़कर शुभ चिंतन को अपनाया जाए। हर वस्तु की, हर परिस्थिति की, हर व्यक्ति की श्रेष्ठता, उत्तमता, उपयोगिता, अच्छाई को तलाश किया जाए। यदि शुभ दृष्टि से संसार के विविध अंगों पर दृष्टिपात किया जाए तो उनमें से सुंदरता, मनोहरता, उपयोगिता का निर्झर झरता हुआ दृष्टिगोचर होगा और आनंद से चित्त प्रफुल्लित हो जाएगा। कवि लोग नदी, तालाब, पर्वत, आकाश, चाँद, तारे, घास, ओस, पुष्प, लता, वृक्ष, संध्या, ऊषा, बादल, बिजली आदि प्रकृति की साधारण सी कृतियों को देखकर आनंद-विभोर हो जाते हैं और उनका वर्णन करते हुए रस की धारा प्रवाहित कर देते हैं। अशुभ दृष्टि से इन्हीं चीजों को देखा जाए तो यह निर्जीव, उपेक्षणीय और डरावनी प्रतीत होंगी। वह तत्त्व 'शुभ दृष्टि' ही है जो इन साधारण वस्तुओं से हृदय की कली को खिला देता है।

अपने स्वजनों में हमें स्वार्थ और दुर्व्यवहार भी बड़ी मात्रा में दिखाई पड़ता है, पर अब तक के उनके उपकारों और सहयोगों का विचार करें तो वह भी इतनी बड़ी मात्रा में मिलेगा कि उनके प्रति मस्तक श्रद्धा से नत हुए बिना नहीं रह सकता। आज अपने सम्मुख अनेक-अनेक अभाव और कष्ट दिखाई पड़ते हैं। परंतु यदि यह तलाश किया जाए कि कितने सुख और साधन हमें प्राप्त हैं, असंख्यों की अपेक्षा हम कितनी अच्छी स्थिति में हैं तो यह पता चलेगा कि वर्तमान स्थिति भी कम आनंददायक, कम महत्त्वपूर्ण, कम सुविधाजनक नहीं है। यदि शुभ चिंतन की दृष्टि से अपनी सुविधाओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि भगवान ने साधन

हमें दे रखे हैं। अंधे, लूले, लँगड़े, कोढ़ी, अनाथ, असहाय, दरिद्र, अशिक्षित, रोगी, अछूत, वृद्ध, कैदी, ऋणग्रस्त, पराधीन आदि कितने ही प्रकार के व्यक्तियों की अपेक्षा हम कहीं अधिक साधनसंपन्न हैं। हमारी स्थिति में पहुँचने के लिए भी हजारों-लाखों प्राणी आतुर हैं, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों को हमारी स्थिति मिल जाए तो वे अपना कितना बड़ा सौभाग्य समझेंगे! इसकी यदि ठीक प्रकार से कल्पना करें तो पता चलेगा कि अपना वर्तमान सौभाग्य कितना उच्चकोटि का है और प्रसन्न होने के कितने अधिक अवसर अपने को उपलब्ध हैं।

गायत्री की 'वरेण्यं' शब्द द्वारा हमारे लिए शिक्षा है कि हम अनिष्ट को छोड़कर श्रेष्ठ का चिंतन करें। अशुभ चिंतन को त्यागकर शुभ चिंतन को अपनाएँ, जिससे मानसिक कुढ़न एवं असंतोष से छुटकारा मिले और सर्वत्र हर परिस्थिति में, आनंद ही आनंद उपलब्ध हो। इसका अर्थ यह नहीं कि अधिक अच्छी परिस्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न ही न किया जाए। वैसा प्रयत्न तो अवश्य जारी रखना चाहिए क्योंकि आत्मोन्नति करना, आगे बढ़ना, शक्तिसंचय करना, यह तो मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म है। जो उसे नहीं करता, वह धर्मघात का अपराधी बनता है। उन्नति के लिए हँसी-खुशी, संतोष, उत्साह एवं कठोर परिश्रम के साथ प्रयत्न करना एक बात है और अपनी स्थिति से असंतुष्ट, दुखी, निराश रहकर सौभाग्य के लिए तरसते रहना दूसरी बात। निश्चित रूप से इनमें से पहली बात ही श्रेष्ठ है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि दुनिया दुरंगी है। उसमें अच्छाइयों की भाँति बुराइयाँ भी कम नहीं हैं। बुराइयों को दूर करने और अच्छाइयों को बढ़ाने के हमारे सभी बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयत्न जारी रहने चाहिए। साम, दाम, दंड, भेद के नरम-गरम तरीकों को बताते हुए पदार्थों के, परिस्थितियों के, मनुष्यों के दोषों को दूर करने और उन्हें अच्छा बनाने के लिए शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए, पर इन प्रयत्नों में

एक ही बात ध्यान रखने की है—ईर्ष्या, घृणा, प्रतिशोध, प्रति-हिंसा, अहंकार आदि की नीच भावनाओं के साथ इस प्रकार का संशोधन-कार्य नहीं होना चाहिए। वरन अध्यापक का विद्यार्थियों के प्रति, डॉक्टर का रोगियों के प्रति, न्यायाधीश का अपराधियों के प्रति, जिस प्रकार अपार प्रेमपूर्ण किंतु कठोर व्यवहार होता है उसी श्रेष्ठ भावना के साथ हम भी अपनी निकटवर्ती बुराइयों का संशोधन और अच्छाइयों की स्थापना करें। कार्य भले ही कठोर हो, पर भावनाएँ उसमें कठोरता की नहीं, श्रेष्ठता की ही होनी चाहिए।

प्रत्येक क्षेत्र में अच्छाई और बुराई मिली हुई है। कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जो पूर्णतया ग्राह्य या त्याज्य हो। साहित्य में अच्छी पुस्तकें भी हैं, कुविचारों को भड़काने वाली घासलेटी किताबें भी। गायन, नृत्य, वाद्य में अंतरात्मा को ऊँचा उठाने की शक्ति भी है और गिराने की भी। संगति से कुसंग भी होता है और सत्संग भी। इन दोनों पक्षों में से हमें केवल श्रेष्ठ को ही ग्रहण करना चाहिए। सब वस्तुओं का श्रेष्ठ भाग ग्रहण और निकृष्ट भाग त्याज्य करना चाहिए। पानी और दूध मिला हुआ हो तो हंस उसमें दूध को पीता है और पानी को छोड़ देता है, यही कार्य पद्धति हमारी भी होनी चाहिए।

हम अपनी अच्छाइयाँ बढ़ावें। सद्‌गुणों को सबसे बड़ी संपत्ति समझें। धन और सद्‌गुणों की तुलना में 'वरेण्यं' को श्रेष्ठ समझें। दूसरों का बड़प्पन उनके धन से नहीं, वरन गुणों के आधार पर नापें। हमारा पूरा और पक्का विश्वास होना चाहिए कि सुख का वास्तविक हेतु 'वरेण्यं' है, 'हिरण्यं' नहीं। श्रेष्ठता है—वर्ण नहीं।

हमारी आकांक्षाएँ, विचारधाराएँ, अभिलाषाएँ, चेष्टाएँ, क्रियाएँ, अनुभूतियाँ श्रेष्ठ होनी चाहिए। हम जो कुछ सोचें, जो कुछ करें, वह आत्मा के गौरव के अनुरूप हो। दुरंगी दुनिया में केवल 'वरेण्यं' ही वर्णन करने योग्य है, श्रेष्ठ ही ग्रहण करने योग्य है। स्मरण रखो गायत्री के 'वरेण्यं' शब्द की शिक्षा है—'अशुभ का त्याग और शुभ का

ग्रहण'। इस शिक्षा को हृदयंगम किए बिना कोई मनुष्य सुख-शांति का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

श्रेष्ठता दैवी संपत्ति है। जिसमें सद्गुण हैं, सद्विचार हैं, सद्भाव हैं, वस्तुतः वही सच्चा संपत्तिवान है। जिसके आचरण सत्यता, लोक-हित, समाजसेवा और धर्मानुकूल हैं वस्तुतः वही बड़ा आदमी है। आज संसार में मनुष्य का मूल्य उसकी धन-दौलत से नापा जाता है। जिसके पास जितने पैसे अधिक हैं, वह उतना बड़ा माना जाता है, परंतु यह कसौटी बिलकुल गलत है। गायत्री हमें सही दृष्टिकोण प्रदान करती है और बताती है कि किसी मनुष्य की आंतरिक महानता ही उसकी श्रेष्ठता का कारण होती है। हम महान बनें, श्रेष्ठ बनें, संपत्तिवान बनें, पर उसकी आधारशिला भौतिक वस्तुओं पर नहीं, आत्मिक स्थिति पर निर्भर होनी चाहिए। अपनी अंतःभूमि को उच्च बनाकर मनुष्यता के महान गौरव को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य हो, यही गायत्री के 'वरेण्यं' शब्द की शिक्षा है।

❐

(भर्गः)

निष्पाप बनाने की प्रेरणा

भर्गो व्याहरते पदं हि नितरां, लोकः सुलोको भवेत्,
पापे पापविनाशने त्वविरतं, दत्तावधानो वसेत्।
दृष्ट्वा, दुष्कृति दुर्विपाक-निचयं, तेभ्यो जुगुप्सेद्धि च।
तन्नाशाय विधीयतां च सततं, संघर्षमेभिः सह॥

अर्थ—'भर्गः' यह पद बताता है कि मनुष्यों को निष्पाप बनना चाहिए। पापों से सावधान रहना चाहिए। पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करे और निरंतर उनको नष्ट करने के लिए संघर्ष करते रहे।

गायत्री का चौथा पद 'भर्गो' मनुष्य जाति के लिए एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है। वह शिक्षा है—निष्पाप होना। पाप का अर्थ है बुराई। बुराई माने वे कर्म जो करने योग्य नहीं हैं। इस दृष्टि से वे सभी शारीरिक, मानसिक क्रियाएँ पाप की श्रेणी में आ जाती हैं, जिनसे मनुष्य के व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन में दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं।

जिन कामों को करने से शरीर का अनिष्ट होता है, वे शारीरिक पाप हैं। स्नान का न करना, गंदे वस्त्र पहने रहना, अधिक खाना, बासी-बुसा, जल्दी-जल्दी निगल लेना, हानिकारक चटोरी चीजों पर मन चलाते रहना, रात को जागना, अधिक वीर्यपात, अनियमित स्वास्थ्य विरोधी दिनचर्या आदि को शारीरिक पाप माना जाएगा। ईर्ष्या, डाह, द्वेष, कुढ़न, संताप, चुगलपना, तृष्णा, चिंता, क्रोध, शोक, निराशा, उद्वेग, चंचलता, कायरता आदि मानसिक पाप हैं। चोरी, आलस्य, उत्तरदायित्व से विमुख होना, व्यभिचार, शोषण, झूठ, छल, विश्वासघात, उद्दंडता, निष्ठुरता, स्वार्थपरता, देशद्रोह आदि सामाजिक पाप हैं। अनुदारता, संकीर्णता, सर्वत्र बुराई ही बुराई देखना, निराशा, आत्महनन,

आत्महीनता, भयभीत रहना, अंधपरंपरा आदि आत्मिक पाप हैं। कारण स्पष्ट है। इन पापों का अवलंबन करने से अपनी शक्ति क्षीण होती है, विरोधी बढ़ते हैं। अशांति में वृद्धि होती है, समाज में गड़बड़ी बढ़ती है, फलस्वरूप इसके मार्ग पर चलने वाला निर्बल, दरिद्र और घृणास्पद, निंदनीय बन जाता है। दूसरों के अविश्वास, असहयोग एवं विरोध के कारण उसे क्षति उठानी पड़ती है। प्राकृतिक एवं ईश्वरीय नियमों के आधार पर उसे आकस्मिक विपत्तियों का कष्ट भोगना पड़ता है।

पाप का फल दुःख होता है, इस बात को साधारणतः सभी लोग जानते हैं, फिर भी बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो पापों से बचने का प्रयत्न करते हैं। दुःखों से लोग डरते हैं, पर दुःखों के कारण पाप को नहीं छोड़ते। यह ऐसा ही है, जैसे कोई अग्नि तो हाथ पर रखे, पर झुलसने से बचना चाहे। देखा जाता है कि अधिकांश मनुष्य ऐसी ही बाल-क्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं।

महर्षि व्यास ने लोगों की इस मूर्खता पर आश्चर्य प्रकट किया है कि वे दुःख को न चाहते हुए भी पाप करते हैं और पाप के अतिरिक्त भी दुःख का कोई अन्य कारण हो सकता है, पर यह निश्चित है कि पाप की प्रतिक्रिया दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। बुरे कर्म का फल बुरा ही होगा, भले ही वह आज हो या कल। इतना होते हुए भी लोग पाप करने से बाज नहीं आते, इसका कारण वह भूल है, जिसे शास्त्रीय भाषा में माया, भ्रांति, अविद्या, असुर्या आदि नामों से पुकारा जाता है।

भगवान ने एक ऐसा आँखमिचौनी का, भूल-भुलैयों का खेल रच दिया है, जिसमें कितने ही व्यक्ति बुरी तरह भ्रमित हो जाते हैं, वह खेल है—कर्म का फल तुरंत न मिलना। यदि चोर का हाथ सूज जाता, झूठ बोलने वाले की जीभ में दरद होने लगता, व्यभिचारियों की इंद्रिय नष्ट हो जातीं, कुदृष्टि डालने वालों की आँखें फिर जातीं, आलसियों

को लकवा मार जाता, बेईमानों का धन कोयला बन जाता, कुमार्गगामी लँगड़े हो जाते, अभक्ष्य खाने वालों के पेट में फोड़ा निकल आता और यह सब परिणाम तत्क्षण उपस्थित हो जाते तो कोई भी इन बुराइयों को करने लिए तैयार न होता। तब सभी लोग पूर्ण धर्मावलंबी होते, परंतु लीलाधर की लीला तो देखिए! उन्होंने कर्म और फल दोनों को अटूट रज्जुओं में बाँधकर भी इतना दूर-दूर रखा है कि स्थूल बुद्धि का आदमी उन दोनों की घनिष्ठता को देख नहीं पाता। सोचता है कि आज कर्म का फल नहीं मिला तो संभव है कभी न मिलता हो। दूसरी बात यह कि पाप कर्मों में तात्कालिक आकर्षण और लाभ होता है, जिनका लोभ संवरण करना बाल-बुद्धि के लिए कठिन होता है। इसके विपरीत पीछे आनंद देने वाले सत्कर्म आरंभ में कष्टसाध्य प्रतीत होते हैं। इन दो पक्षों में से किसे चुनें, किसे न चुनें, यह निर्णय करना साधारण बुद्धि का काम नहीं है। अकसर चिकनाई पर पैर फिसल जाता है। तात्कालिक आकर्षण के लोभ में दूरवर्ती स्थायी सुख की उपेक्षा कर दी जाती है और क्षणिक लाभ के उपरांत दीर्घकाल तक व्यथित करने वाली पीड़ा को अपना लिया जाता है। मंदबुद्धि पशु-पक्षी जरा से चारे देने के लोभ में बधिक के जाल में पड़कर जिस प्रकार दुःख पाते हैं,लोभग्रस्त मनुष्य पाप के फंदे में उसी प्रकार गला फँसा बैठते हैं और पीछे असहनीय यातनाएँ भोगते रहते हैं।

भगवान ने यह खेल मनुष्य की बुद्धि परीक्षा के लिए रचा है, यह मालूम होता है। आँखमिचौनी के खेल में बालकों को काफी सूक्ष्मबुद्धि से काम लेना पड़ता है। भूल-भुलैयों में से बाहर निकलने के लिए भी काफी बारीकी से सोचना पड़ता है। मनुष्य को इच्छित कर्म करने की, पाप और पुण्य में से चाहे जिसे चुनने की स्वतंत्रता देकर प्रभु ने उसे चौराहे पर खड़ा कर दिया है, जहाँ उसकी कठिन परीक्षा होती है, होनी भी चाहिए। स्वतंत्रता के साथ विवेक और उत्तरदायित्व भी आवश्यक है, अविवेकी ओर गैरजिम्मेदार लोग स्वतंत्रता को बंधन में बदल लेते

हैं। इस परीक्षा में पास हो जाना, भ्रांत के चक्कर से बच जाना, प्रलोभन में पड़कर दूरदर्शिता से काम लेना यही तो बुद्धिचातुरी का प्रमाण है। जो व्यक्ति अपनी चातुरी का ऐसा प्रमाण देते हैं, वे स्वर्गीय सुख का, आत्मानंद का, पूर्ण स्वतंत्रता का, जीवनमुक्ति का आनंद लाभ करते हैं। जो भूलते हैं, वे दुःख-दारिद्र्य की चपत और दुतकार सहते हैं।

इस भूल से बचने के लिए ही गायत्री का चौथा पद 'भर्गः' है। भर्गः—अर्थात निष्पाप। यह शब्द हमें सचेत करता है कि यदि आपत्तियों से बचना है तो पाप रूपी सर्प से सावधान रहना चाहिए। कई लोग सोचते हैं कि धर्म का, पुण्य का आचरण बड़ा कठिन है। यह मान्यता ठीक नहीं। सदा ही सत्य सरल और असत्य कठिन होता है। झूठ बोलने में, बेईमानी में, ठगने में, चोरी करने में, व्यभिचार में चालाकी, चतुराई, होशियारी, पेशबंदी, तैयारी आदि की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। थोड़ी सी भी चूक हो जाने पर भेद खुल सकता है और निंदा तथा दंड का भागी होना पड़ता है। इसके विपरीत सच बोलने में, पूरा तौलने में, ईमानदारी बरतने में, सदाचारी रहने में किसी खटखट की जरूरत नहीं, मूर्ख से मूर्ख आदमी भी इन बातों में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव नहीं करता। उचित और आवश्यक चीजें सर्वत्र सुलभ हैं और अनुचित तथा अनावश्यक चीजें दुर्लभ हैं। हवा, पानी, अन्न, वस्त्र आदि आवश्यक चीजें सर्वत्र सुलभ हैं, विष आदि अनावश्यक चीजें दुष्प्राप्य हैं। गाय, भैंस, बकरी, घोड़े आदि उपयोगी पशु आसानी से मिल जाएँगे। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशु कहीं-कहीं कठिनाई से दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार लाभदायक पुण्यकर्म सर्वथा सुलभ हैं। इसके विपरीत हानिकारक दुःखदायी पापकर्मों की व्यवस्था बड़ी चालाकी और कठिनाई से बन पड़ती है। जो धर्मपालन की, पुण्य संचय की इच्छा रखते हैं, उनके लिए यह सब बहुत ही सुलभ है।

फिर भी संचित संस्कारों, पुरानी आदतों, वातावरण के दुष्प्रभावों के कारण यदि बुराइयाँ छूटती नहीं, सन्मार्ग पर चलते-चलते हर बार पैर फिसल जाता हो तो भी निराश होने की बात नहीं। बुराई के प्रति घृणा और विरोध का भाव जाग्रत रखना चाहिए। अपनी भूल और बुराई का बार-बार निरीक्षण करते रहना और उसके लिए पश्चात्ताप एवं छोड़ने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न जारी रहे तो निरंतर बुराई घटती जाएगी, चाहे वह कितनी ही मंदगति से कम क्यों न हो रही हो, एकदिन उसका पूर्ण अंत अवश्य हो जाएगा। इसके विपरीत यदि विरोध का अंत कर दिया गया, उसे नीति मान लिया गया और उसके करने में आंतरिक लज्जा, भय, पश्चात्ताप तथा दुःख का भाव छोड़ दिया गया, तो वह बुराई जड़ जमा लेगी और फिर उसका छूटना कठिन हो जाएगा। इसी प्रकार अन्य लोगों को समाज की, राज की, बुराइयों को भी सहन कर लेना या उनसे समझौता कर लेना उचित नहीं। यदि तत्क्षण उन पापों को मिटा डालना अपनी सामर्थ्य में न हो तो भी उनके प्रति असंतोष, असहयोग, विरोध और संघर्ष तो न्यूनाधिक मात्रा में जारी रखना ही चाहिए और अवसर आने पर इस विरोध में कष्ट सहन करने के लिए भी तैयारी करते रहना चाहिए। इस प्रकार यह मंद प्रयत्न भी निष्पाप बनने की महायात्रा में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

विद्यार्थी से बार-बार गलती होती है, पहले छोटे दरजे में था तब भी गलती होती थी, अब ऊँचे दरजे में है तो भी गलती होती है। यह देखकर भी कोई विद्यार्थी निराश नहीं होता, वरन उत्साहपूर्वक अपनी पढ़ाई जारी रखता है और अनुभव करता है कि मैं आगे बढ़ रहा हूँ, निम्नश्रेणी का चोर मनुष्य समझता है कि मैं पाप करता हूँ। ऊँची आध्यात्मिक स्थिति का महात्मा भी आत्म-निरीक्षण में अपने अंदर अनेकों त्रुटि पाता है। जितनी ही आत्मज्योति बढ़ती जाएगी उतनी ही स्पष्टता से छोटे-छोटे दोष भी बड़े दिखाई देने लगेंगे। इससे किसी को

घबराने, हिम्मत हारने या निराश होने की जरूरत नहीं है। इतना प्रयत्न करने पर भी हम पूर्ण निष्पाप नहीं हो पाए, सदा असफल ही रहेंगे, ऐसी हिम्मत हारना उचित नहीं। कक्षा ४ के विद्यार्थी की परीक्षा में भी आधे उत्तर गलत निकलते हैं और एम. ए. का छात्र भी आधे उत्तर सही कर पाता है। तो क्या दोनों ही समान असफल, समान अशिक्षित कहे जाएँगे।

गायत्री का 'भर्गः' पद हमें निष्पाप बनने की शिक्षा और स्फूर्ति देता है। इस प्रेरणा से बल लेकर यदि पवित्रता की दशा में हमारा प्रयत्न जारी रहे तो संसार के समस्त कष्टों एवं भवबंधनों से छूटकर हम जीवन-मुक्ति का स्वर्गीय आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

❑

(देवस्य)

देवत्व का अवलंबन कीजिए

देवस्येति तु व्याकरोत्यमरतां, मर्त्योऽपि संप्राप्यते,
देवानामिव शुद्धदृष्टिकरणात्, सेवोपचाराद भुवि।
निःस्वार्थ परमार्थ-कर्म-करणात् दीनाय दानात्तथा,
बाह्याभ्यन्तरमस्य देवभुवनं संसृज्यते चैव हि॥

अर्थ—'देवस्य' यह पद बतलाता है कि मरणधर्मा मनुष्य भी अमरता अर्थात देवत्व को प्राप्त हो सकता है। देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ-कर्म करने से मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है।

'देव' उसे कहते हैं जो दे। 'लेव' उसे कहते हैं जो ले। सुर और असुर में, देव और दानव में अंतर केवल इतना ही है कि देव की मनोवृत्ति अपने लिए कम लेने की और दूसरों को अधिक देने की रहती है, इसके विपरीत दानव अपने लिए अधिक चाहते हैं और दूसरों को देने में बड़ी अनुदारता बरतते हैं। इन दोनों में से चाहे जिस गति को, चाहे जो मनुष्य स्वेच्छापूर्वक प्राप्त कर सकता है। वह चाहे देव बन सकता है या चाहे तो असुर पदवी प्राप्त कर सकता है।

देवताओं को अमर कहते हैं। अमर वह जो कभी मरे नहीं। अपने को अविनाशी आत्मा मान लेने से, आत्म-साक्षात्कार कर लेने से, वह शरीरों की मृत्यु को मृत्यु अनुभव नहीं करता। उसे सदा यही अनुभव होता है कि मैं अमर हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप अविनाशी, अविच्छिन्न, अक्लेद्य, अशोष्य है। इसके अतिरिक्त देवमनोवृत्ति के मनुष्य के कर्म भी दैवी आदर्श, धर्मयुक्त होते हैं। ऐसे विचार और कर्मों वाले महापुरुषों का यश-शरीर **'यावत् चन्द्र दिवाकरौ'** बना रहता है। शिवि, दधीच, हरिश्चंद्र, मोरध्वज, प्रह्लाद, बुद्ध, गांधी आदि का यश-शरीर अमर है, उनकी मृत्यु कभी नहीं हो सकती, इसीलिए उनकी अमरता में किसी

प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे अमर पुरुष सदा देव श्रेणी में ही गिने जाएँगे।

संसार की वस्तुओं को, समस्याओं को, परिस्थितियों को, लाभ-हानि को, परखने की—समझने की दो दृष्टियाँ, दो कसौटियाँ होती हैं। एक को शुद्ध, दूसरी को अशुद्ध कहते हैं। शुद्ध दृष्टि से देखने वाला मनुष्य हर काम को आत्मलाभ या आत्मदृष्टि की तराजू पर तौलता है। वह देखता है कि इस कार्य को करने में अत्यंत कल्याण है या नहीं, जिस कार्य में स्थायी सुख होता है, उसे ही वह ग्रहण करता है, भले ही उसे स्वल्प तात्कालिक लाभ एवं कम भौतिक सुख में संतोष करना पड़े। इसके विपरीत अशुद्ध दृष्टिकोण वाला मनुष्य अधिक धन, अधिक सुख, अधिक भोग-उपार्जन में लगा रहता है। इन वस्तुओं को अधिक संख्या, अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए वह इतना विमुग्ध होता है कि धर्माधर्म तक की परवाह करना छोड़ देता है। आज के लिए वह कल के दुःख को नहीं देखता। अशुद्ध दृष्टिकोण रखने वाले मनुष्य के विचार और कर्म अति स्वार्थपूर्ण, अनर्थपूर्ण होते हैं, इसलिए उसे निंदनीय, दंडनीय असुर माना जाता है। देववृत्ति का मनुष्य शुद्ध सात्त्विकता को अपनाता है। फलस्वरूप उसके समस्त विचार और कार्य पुण्य की, परमार्थ की श्रेणी में आने योग्य होते हैं। अतएव उस देवता को सर्वत्र पूजा, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, श्रद्धा प्राप्त होती है।

गायत्री के पाँचवें पद 'देवस्य' का संदेश है कि अशुद्ध दृष्टिकोण से बचकर शुद्ध विचारधारा को अपनावें। असुरता की नीति को छोड़कर देवत्व की गतिविधि को स्वीकार करें। उन क्षणिक सुखों, आकर्षणों और प्रलोभनों से बचें जो भविष्य में दुःख देने वाले हों, जिसके कारण आत्मा को पतन के गहरे गर्त में गिरना पड़ता हो।

देवता स्वर्ग में निवास करते हैं। स्वर्ग जिनका जन्मसिद्ध अधिकार है। ये जहाँ भी रहेंगे, छाया की तरह स्वर्ग उनके पीछे-पीछे फिरेगा। देव और स्वर्ग का आपस में इतना घनिष्ठ एवं अटूट संबंध है कि वह

किसी भी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता। दैवीवृत्तियाँ इतनी शीतल, शांतिदायक, उल्लासमयी एवं आनंदयुक्त हैं कि वे जहाँ रहती हैं,वहाँ अमृत का निर्झर हर घड़ी प्रवाहित करती रहती हैं। सांसारिक परिस्थिति भी कितनी ही साधारण क्यों न हो, फिर भी दैवीवृत्तियों वाला मनुष्य इतना आनंद अनुभव करेगा, जितना अशुद्ध दृष्टिकोण वाला कुबेर को भी नसीब नहीं हो सकता। महापुरुष इमर्सन कहा करते थे कि मुझे नरक में भी रहना पड़े, तो भी मैं अपने लिए वहाँ स्वर्ग की रचना कर लूँगा। उनका यह कथन सोलह आना सच है। उच्च सांसारिक स्थिति वाले मनुष्य के लिए संसार के कण-कण में अपार आनंद भरा पड़ा है। उसे कोई भी सांसारिक कठिनाई भय, चिंता एवं क्लेश में नहीं डाल सकती।

देवता लोग द्रवित होने वाले होते हैं, उनके स्वभाव में असीम करुणा और दया भरी होती है। दूसरों को अभावग्रस्त, दुखी, निर्बल, विपन्नताग्रस्त देखकर उनकी अंतरात्मा रो पड़ती है और उन्हें उबारने के लिए वे अपनी तुच्छ सामर्थ्य का अधिकाधिक भाग खरच कर डालने को आतुर हो जाते हैं। समय, शक्ति, योजना एवं संपत्ति तो हर एक के पास सीमित ही होती है, उसे चाहे हर कोई भोग ले। दयालु मनुष्य की अंतरात्मा दूसरे के कष्ट को कम करने के लिए सोचती है, फलस्वरूप दूसरों की सेवा और सहायता में उसे लगना पड़ता है। एक ओर शक्ति का अधिक भाग खरच कर दिया जाए तो दूसरी ओर कम शक्ति लगेगी। अपने शौक-मौज के लिए उनके पास न समय बचता है, न संपत्ति और न शक्ति। फलस्वरूप वे संयमी, अपरिग्रही का साधु जीवन बिताते हैं। देव स्वभावतः आत्मसंयमी होते हैं। क्योंकि अपने लिए कम से कम शक्ति व्यय करने पर ही तो वे शेष को लोकसेवा में लगा सकेंगे। भोग और परमार्थ साथ-साथ नहीं हो सकते। दोनों में से एक को प्रधानता देनी पड़ती है। जो विलासप्रिय है वह उदार नहीं हो सकेगा, जो उदार होगा उसे विलासिता फूटी आँखों न सुहाएगी।

क्षणभंगुर शरीर की चटोरी इंद्रियों की तृप्ति करने में 'सुरदुर्लभ मानव जीवन' को व्यतीत कर डालना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। सामाजिक कुरीतियों के खरचों के आडंबरों को पूरा करने के लिए जैसे-तैसे करके धन जोड़ते रहना और फिर एक दिन में उसे बारूद की तरह फूँक देना, यह भी कोई दूरदर्शिता की बात नहीं है। गायत्री कहती हैं कि हे मेरे प्रिय पुत्रो! परमात्मा के अमर राजकुमारो! तुम देव हो, दिव्यता वरण करो, अपने दृष्टिकोण को दिव्य बनाओ, शुद्ध बनाओ, जिन बाल-क्रीड़ाओं में अनेकों अज्ञानग्रस्त अविवेकी उलझ रहे हैं, उन्हीं में तुम भी मत फँस जाओ। अशुद्ध दृष्टि अपनाकर केवल मूर्ख या दुष्ट बना जा सकता है, ईश्वर ने शरीर, बुद्धि और जीवनरूपी बहुमूल्य संपत्ति इसलिए दी है कि दैवी गतिविधि को अपनाकर स्वर्गीय आनंद का आस्वादन किया जाए। तृष्णा, भोग, लोभ, अहंकार, मोह आदि के जंजालों में फँसकर इन बहुमूल्य शक्ति-संपत्तियों का अपव्यय या दुर्व्यय करना सर्वथा अनुचित है।

हमारा जीवन देवत्व से परिपूर्ण होना चाहिए। हमारी विचारधारा में दिव्यदृष्टि का, परमार्थ बुद्धि का समावेश होना चाहिए। हम अपने साथ प्यार करें, अपनी आत्मा के साथ प्यार करें, अपने जीवन के साथ प्यार करें। मोहवश कुपथ्य कराके रोगी बालक को मृत्यु-मुख में ढकेल देने वाली माता का प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है, उसे तो मोह ही कहा जाएगा। हम अपना लाभ सोचें, अपना हित पहचानें, अपनी स्वार्थ साधना करें, पर कुपथ्य कराने वाली माता की तरह न करें।

संसार में दो ही प्रकार से आनंद अनुभव किया जाता है— (१) ख्याल से (२) माल से। दुनिया माल की मस्ती में मस्त है। संपत्ति से सुख मिलता है, यह मान्यता लोगों के मस्तिष्क में घर कर गई है, इस अशुद्ध दृष्टिकोण के फेर में पड़कर वे संपत्ति के आस-पास चक्कर काटते रहते हैं, वह भी मिल तो किसी विरले को ही पाती है,

पर उसकी मृगतृष्णा में सभी भटकते रहते हैं। यह बाल-बुद्धि मूढ़मति लोगों के लिए उपयुक्त हो सकती है। गायत्री के साधक से बुद्धिमान होने की आशा की जाती है। वह प्रौढ़, परिपक्व, शुद्ध विचारों का होना चाहिए। तदनुसार उसे यह सद्विचारों की, ज्ञान की मस्ती में मस्त होने का मार्ग अपनाना चाहिए।

लोग समझते हैं कि 'अपना लाभ करने के लिए दूसरों की हानि करनी पड़ती है। दूसरों का लाभ करना हो तो स्वयं हानि उठानी पड़ती है।' यह मान्यता ठीक नहीं, वास्तव में भलाई और बुराई के इस प्रकार खंड नहीं किए जा सकते, वह दो परस्पर विरोधी भागों में नहीं बँट सकती। जो दूसरों की भलाई है, उसी में अपनी भी भलाई समाई हुई है। जिस कार्य से दूसरों का बुरा होता है, उससे अपना भी बुरा ही हो सकता है। इसलिए हमें सार्वभौम भलाई को अपनाकर परमस्वार्थ का, परमार्थ का संपादन करना चाहिए।

हमारे भीतर देव और असुर दोनों का निवास है। दोनों में नित्यप्रति संघर्ष होता रहता है। गायत्री कहती है कि हम देवतत्त्व को विकसित करें, देवत्व को प्रोत्साहन दें, दैवी आत्म संकेतों का अनुसरण करें। यही कल्याणकारी संदेश 'देवस्य' शब्द में छिपा हुआ है।

असुरों को अहंकार और भोग प्रिय होते हैं। मनुष्यों को यश और संपदाओं की इच्छा रहती है। देवताओं को प्रेम, कलाभाव, सरसता, सेवा, परमार्थ एवं सात्त्विकता में रुचि होती है। जिसके स्वभाव में जो वृत्ति जितनी मात्रा में है, वह उतने ही अंश में असुर, मनुज या देव है। गायत्री कहती है कि हम असुरता को नष्ट करें, मनुष्यता से ऊँचे उठें और देवत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

देवताओं का दृष्टिकोण दिव्य होता है। दिव्यदृष्टि का अर्थ है— दूरदर्शिता। लोग तात्कालिक क्षणिक लाभों के लिए भविष्य को बिगाड़ लेते हैं और बहुत काल तक असहनीय यातनाएँ सहने को तैयार हो जाते

हैं, यह दूषित दृष्टि है। दूषित दृष्टि वाले क्षणिक इंद्रिय भोगों के लिए अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर देते हैं, लोभ के वशीभूत होकर दुष्कर्म करने लगते हैं और तुच्छ लाभों के लिए पापकर्म करके अपने परलोक को बिगाड़ लेते हैं। क्रोध के आवेश में आकर जो उत्पात करते हैं, उनसे क्या दुष्परिणाम निकलेगा यह भूल जाते हैं। शरीर के लिए, अस्थिर जीवन के लिए आत्मिक स्वार्थों का हनन करते हैं, यह सब स्थूल दृष्टि का, दूषित दृष्टि का परिणाम है। पक्षी कुछ दानों के लोभ में जाल में फँसकर अपने प्राण गँवा देते हैं। वैसा ही परिणाम मनुष्य को भी भोगना पड़ता है। जिसे देवत्व की दिव्यदृष्टि प्राप्त है, वह केवल आज की नहीं, कल की भी बात सोचता है और देखता है कि कहीं कौड़ियों के बदले हीरा तो नहीं गँवाया जा रहा। जहाँ उसे ऐसा खतरा मालूम देता है, वहाँ वह सँभल जाता है और आज के दुःख को अपनाकर कल का सुख इकट्ठा करता है। किसान को हम दिव्यदर्शी कह सकते हैं, वह आज पेट पर पट्टी बाँधकर खेत में कठोर श्रम करता है, बीज बोने का प्रत्यक्ष नुकसान करता है। क्योंकि उसे विश्वास है कि आज के त्याग का परिणाम कल फसल के रूप में अनेक गुने लाभ के रूप में प्राप्त होगा। दिव्यदृष्टि वाले जीवन की हर समस्या पर इसी दृष्टिकोण से सोचते हैं और बुद्धिमान किसान की तरह अनेक गुना लाभ प्राप्त करते हैं।

जबकि साधारण लोग सदा अपने अभाव, दुःख, दोष देखते हैं, दूसरों के व्यवहार में बुराई, कमी, भूल ढूँढ़ते हैं और उनसे हर घड़ी दुखी रहते हैं, तब देव स्वभाव के मनुष्य ईश्वर द्वारा अपने को दी हुई अगणित सुविधाओं का चिंतन करके हर घड़ी प्रसन्न रहते हैं। अपने को सौभाग्यवान समझते हैं कि हम असंख्यों से अच्छे हैं। दूसरों के उपकारों, सहायताओं, भलाइयों और अच्छाइयों को स्मरण करते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य एवं उपयोगिता ढूँढ़ते हैं, इस प्रकार

उन्हें अपने चारों ओर आनंद, संतोष, प्रसन्नता एवं सौभाग्य बिखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसके लिए वे परमात्मा को अनेक धन्यवाद देते हैं कि 'प्रभु तूने हमें इतने अगणित सुख-सौभाग्य दिए हैं, इसके लिए हम तेरे कृतज्ञ हैं।' इन सौभाग्य राशियों की तुलना में उन्हें अपने अभाव और कष्ट ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानो केवल उन्हें शोभा के लिए रखा गया हो। सुंदर बालक के माथे पर माताएँ काला टीका लगा देती हैं कि उसे किसी की नजर न लग जाए। थोड़े से अभाव और कष्टों को वह ईश्वर द्वारा लगाया हुआ टीका समझते हैं और उसकी अनेक प्रकार उपयोगिता एवं आवश्यकता अनुभव करते हुए सुखी, संपन्न एवं संतुष्ट रहते हैं।

गायत्री हमें देव बनाना चाहती है। उसका 'देवस्य' शब्द हमें देवत्व की ओर प्रेरणा देता है।

❐

धीमहि

दैवी संपत्तियों का संचय कीजिए

धीमहि सर्वविधं हृदये शुचि-
शक्ति च यं वयमित्युपदिष्टाः।
नो मनुजो लभते सुखशांति-
मनेन विनेति वदन्ति हि वेदाः॥

अर्थ—हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें। वेद कहते हैं कि इनके बिना मनुष्य सुख-शांति को प्राप्त नहीं होता।

यह सुनिश्चित तथ्य है कि शक्ति के बदले में सुख मिलता है। जिस प्रकार पैसे के बदले में खरीदे जाने वाले सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार शक्ति के बदले में विविध प्रकार के आनंद प्राप्त किए जाते हैं। जिसका शरीर शक्तिशाली है। इंद्रियाँ सूक्ष्म हैं, वह ही विविध प्रकार के इंद्रिय भोगों को भोग सकता है। जिसका शरीर रोगी, निर्बल एवं अशक्तिशाली है, उसको उत्तम से उत्तम इंद्रियभोग भी बुरे लगते हैं। रूपवती नवयौवना तरुणी का उद्दीप्त प्रेम, कोई उसी प्रकार की शक्तियों वाला नवयुवक ही प्राप्त कर सकता है। गत यौवन वृद्धों के लिए उसे आकर्षित कर सकना कठिन है। शिक्षा, स्वास्थ्य, धन, संगठन, शिल्प, अनुभव, चतुरता, पुरुषार्थ, शक्तियों का भंडार जिसके पास जितनी अधिक मात्रा में है, वह उतना ही अधिक संपत्ति, वैभव, समृद्धि एवं ऐश्वर्य सुख-सामग्री प्राप्त कर सकता है। जिसके पास इन शक्तियों की जितनी कमी है, वह उतनी ही मात्रा में अभावग्रस्त एवं कठिनाइयों का जीवन व्यतीत करेगा।

शरीर को सुख देने वाले ऐश्वर्य शरीर से संबंध रखते हैं। जिसने अपने में जितनी अधिक भौतिक योग्यताएँ एकत्रित कर ली हैं, वह उतना ही अधिक सांसारिक सुख भोग सकेगा। इतना होने पर भी उससे

आत्मिक सुख उपलब्ध नहीं किया जा सकता। आत्मिक सुख के लिए आत्मिक शक्तियों की आवश्यकता है। सद्गुण, सात्त्विक दृष्टिकोण, सत्स्वभाव, संयम, उदार एवं नम्र व्यवहार की दैवी संपत्तियाँ जिनके पास हैं, उनके मानसिक क्षेत्र में सर्वत्र सुख-शांति ऐसी उत्कृष्ट होगी कि सांसारिक कठिनाइयाँ भी उसे विचलित न कर सकेंगी।

गीता के सोलहवें अध्याय में २६ दैवी संपदाएँ बताई हैं, वे यह हैं—१. निर्भयता, २. अंत:करण की स्वच्छता, ३. ज्ञान में निष्ठा, ४. उदारता, ५. इंद्रिय निग्रह, ६. परमार्थ कर्म, ७. स्वाध्याय-आत्मचिंतन, ८. सत्प्रयोजन के लिए कष्ट सहना, ९. सादगी, १०. अहिंसा, ११. सत्य, १२. अक्रोध, १३. अभिमान का त्याग, १४. अनुद्वेग, १५. निंदा, चुगली आदि से दूर रहना, १६. दयालुता, १७. निर्लोभता, १८. सहृदयता, १९. दुष्कर्मों के करने में लज्जा, २०. छिछोरपन से बचना, २१. तेजस्विता, २२. क्षमा, २३. धैर्य, २४. सफाई, २५. शत्रुता का अभाव, २६. अपने को दूसरों से श्रेष्ठ न समझना, ये आत्मिक गुण हैं। जिनकी आत्मा बलवान है, उनमें इन गुणों का अधिकाधिक विकास देखा जाएगा, यह विकास जितना ही अधिक होगा उतनी ही आत्मसंतोष की मात्रा में अभिवृद्धि होगी।

बल का महत्त्व किसी से छिपा हुआ नहीं है, आजकल लोग धन बल को अधिक महत्त्व देते हैं, फिर भी स्वास्थ्य बल, संगठन बल आदि की महिमा से अपरिचित नहीं हैं। खेद इस बात का है कि इन सबों की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यक एवं स्थायी आनंद प्रदान करने वाले आत्मबल की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। उपनिषद् का वचन है कि 'वह परमात्मा निर्बलों को प्राप्त नहीं होता।' यह अनुभव सिद्ध बात है कि निर्बलों को सर्वत्र दुखी, दरिद्र और अभावग्रस्त रहना पड़ता है, उन्हें न इस लोक में सुख है, न परलोक में, न सांसारिक सुविधा मिलती है और न मानसिक शक्ति। इसलिए उभयपक्षीय—बाह्य और आंतरिक गुणों की, योग्यताओं की, शक्तियों की मात्रा को अधिकाधिक बढ़ाना उचित है।

गायत्री के 'धीमहि' शब्द का संदेश यह है कि हम अपने अंदर सद्‌गुणों की धारणा करें। अपने स्वभाव को नम्र, मधुर, शिष्ट, खरा, निर्भीक, दयालु, पुरुषार्थी, निरालस्य, श्रमशील बनावें तथा व्यवहार में उदारता, सचाई, ईमानदारी, निष्कपटता, भलमनसाहत, न्यायपरायणता, समानता तथा उद्योगशीलता का परिचय दें। उन सभी गुणों, विशेषताओं और योग्यताओं को अपनावें, जिनके द्वारा स्वास्थ्य, कीर्ति, प्रतिष्ठा, उच्चपद, धन-वैभव आदि की प्राप्ति होती है। यह सांसारिक संपत्तियाँ भी आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे जीवन की गतिविधि शांति और सुविधापूर्वक चलती है। दरिद्र व्यक्ति संसार में सुखी नहीं रह सकता है। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल उदरपोषिणी योग्यताओं से ही काम नहीं चल सकता। ऐसी योग्यता तो पशु-पक्षी भी प्राप्त कर लेते हैं, इनके अतिरिक्त वे सद्‌गुण भी संचय करने चाहिए जिनके कारण मनुष्य पूजा जाता है, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, यशस्वी होता है, महापुरुष बनता है, सबका प्रेमपात्र नेता बनता है एवं सहज ही अपने अनेकों सहायक, मित्र, शुभचिंतक, श्रद्धालु, अनुयायी एवं प्रशंसक बना लेता है। जिसके सद्‌गुणों की सुगंधि चारों ओर फैल रही है, उसे विमुग्ध होकर अनेक पारखी भ्रमर घेरे रहते हैं।

ऐसे व्यक्तियों को जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए कभी अभावग्रस्त नहीं रहना पड़ता। जिसके अधिक सहयोगी हैं, जिस पर अधिक विश्वास करते हैं, उसके जीवन का मार्ग सुगम होता है। भले ही वह अपनी त्यागवृत्ति के कारण कुवेर न बन पावे या अमीरी का ऐशोआराम न भोग पावे, पर इतना निश्चित है कि उसे दरिद्रता का दु:ख कभी न भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त सद्‌गुणों की सात्त्विकता के कारण आत्मबल की वृद्धि, धर्मसंचय, दिव्यतत्त्वों की प्रचुरता के कारण अंत:करण में जो अगाध शांति रहती है, उससे आत्मकल्याण का, परमानंद का, जीवनमुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता जाता है और अंत

में यही गुण एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक साधन की भाँति जीव और ईश्वर का सम्मिलन कराने में समर्थ हो जाता है।

छब्बीस दैवी संपदाएँ गीता में बताई गईं हैं, इनको संक्षेप में कहना चाहें तो (१) अनुत्तेजना, (२) स्वच्छता, (३) विचारशीलता, (४) सहिष्णुता, (५) संयम, (६) शक्ति संचय, (७) उदारता, (८) कर्त्तव्यपरायणता, इन आठ गुणों में भी विभाजित कर सकते हैं। उन गुणों को अपने स्वभाव और अभ्यास में लाना यह एक उच्चकोटि का धन उत्पन्न करना है।

धन उतना ही आवश्यक है, जितने से शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक उत्तरदायित्व सुविधापूर्वक पूरे होते रहें। इस मर्यादा से अधिक मात्रा में धन उपार्जन करने एवं जोड़ने की तृष्णा सुखदायक नहीं, वरन अनेक कलह-क्लेश, पाप-तापों को उपस्थित करने वाली होती है। इसलिए अनावश्यक धन के संचय को पाप माना गया है और परिग्रह (अनावश्यक धन जोड़ने) को प्रधान पाँच पापों में से एक गिना गया है। जोड़ने योग्य, जमा करने योग्य, कभी संतुष्ट न होने योग्य संपत्ति तो सद्गुणों की दैवी संपत्ति ही है। शिक्षा, शिल्प, संगीत, रसायन कला आदि की योग्यताएँ एक सोना भरी तिजोरी से अधिक मूल्यवान हैं। जो धन से विमुख होकर योग्यताएँ कमाता है, शक्तियाँ उपार्जित करता है, वह घाटे का नहीं, नफे का व्यापार कर रहा है। जिसने गुणों की शक्तियों की उपेक्षा करके धन कमाने का ही कार्यक्रम बनाया हुआ है, वह आत्मिक दृष्टि से मूर्ख ठहराया जाएगा।

धन से योग्यताओं का मूल्य अधिक है और योग्यताओं से स्वभावों का महत्त्व विशेष है। किसी व्यक्ति ने धन और सांसारिक विशेषताएँ न होने पर भी यदि अपने को उच्च दृष्टिकोण, सद्विचार, निर्विकार विवेक, सात्त्विकवृत्ति और मधुर व्यवहार को अपने स्वभाव में परिपूर्ण कर लिया है तो निश्चय समझिए कि वह किसी भी बड़े से बड़े धन कुवेर और गुणवान से कम संपत्तिशाली नहीं है। अपनी उच्च आंतरिक

स्थिति के कारण वह स्वल्प साधनों में भी इतना आनंदित रहेगा, जिसकी कल्पना भी असंस्कृत मस्तिष्क वाले नहीं कर सकते। जिसकी पाचनशक्ति प्रबल है, वह मोटी रोटी में भी ऐसा आनंद अनुभव करेगा, जो उदर रोगी को षटरस व्यंजनों में भी नसीब नहीं हो सकता। मनोभूमि की शुद्धता को प्रबल पाचनशक्ति ही समझना चाहिए, जिनके होने पर गरीबी में भी स्वर्गीय जीवन का रस लिया जा सकता है।

गायत्री के 'धीमहि' शब्द का संदेश है कि वस्तुएँ मत जोड़ो, गुणों को धारण करो। कचरे की गठरी मत बाँधो, सोने का टुकड़ा रख लो। जीवन में सर्वोपरि आनंद देने की कुंजी सात्त्विकवृत्तियाँ ही हैं। उनका महत्त्व समझो, उन्हें ढूँढ़ो, उनका संचय करो। जिसके पास अधिकाधिक मात्रा में दैव संपत्तियाँ हैं वास्तव में वही सच्चा धनी है।

संसार में अब तक अनेक धनी पुरुष हुए हैं, पर वे न तो इतिहास में अपना कोई स्थान बना सके और न स्वयं लोक-परलोक की सुख-शांति का उपभोग कर सके। आवश्यकता से अधिक मात्रा में संचित किया हुआ धन एक प्रकार का दैवीकोप, ईश्वरीय अभिशाप है, जिसके कारण उस धनी व्यक्ति को तथा उसके परिवार को नाना प्रकार के दुर्गुणों, दुर्व्यसनों, पापों, रोगों एवं चिंताओं का शिकार बनना पड़ता है। योग्यताएँ, सद्‌गुण एवं उत्तम स्वभाव का धन ही सच्चा धन है। गायत्री का 'धीमहि' शब्द हमें इसी आत्मिक धन का धनी बनने को कहता है।

❑

(धियो)

विवेक का अनुशीलन

धियो मत्योन्मथ्यागमनिगममंत्रान् सुमतिवान्,
विजानीयात्तत्त्वं विमलनवनीतं परमिव।
यतोऽस्मिन् लोके वै संशयगत-विचारस्थलशते,
मतिः शुद्धैवाच्छा प्रकटयति सत्यं सुमनसे॥

अर्थ—वेद-शास्त्रों को बुद्धि से मधुकर—मक्खन के समान उत्कृष्ट तत्त्व को जाने, क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है।

कई बार ऐसे अवसर सामने आते हैं कि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के सामने आ जाने पर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और यह निर्णय नहीं हो पाता कि इनमें से किसे स्वीकार तथा किसे अस्वीकार करें।

वेद-शास्त्रों में अनेकों ऐसे स्थल हैं, जिनमें आपसी मतभेद बहुत भारी हैं। एक ग्रंथ में एक बात का समर्थन किया गया है तो दूसरे में उसका विरोध है। इसी प्रकार ऋषियों, संतों, महापुरुषों, नेताओं के विचारों और आदर्शों में कभी-कभी असाधारण विरोध होता है। इन उलझनों में साधारण व्यक्ति का मस्तिष्क भ्रमित हो जाता है। किस शास्त्र को, ऋषि को, महापुरुष को, नेता को वह गलत ठहरावे, किसे सही ठहरावे। सभी का अनुकरण नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधी मतों को एक साथ मानना और उनका अनुसरण करना असंभव है।

गायत्री का 'धियो' शब्द ऐसे अवसरों पर विवेक की कसौटी हमारे हाथ में देता है और आदेश करता है कि किसी भी पुस्तक या व्यक्ति की अपेक्षा विवेक का महत्त्व अधिक है। इसलिए जो बात बुद्धिसंगत हो, विवेकसम्मत हो, समझ में आने योग्य हो, उचित हो, केवल उसी को ग्रहण करना चाहिए।

देश, काल और परिस्थिति का ध्यान रखकर समय-समय पर आचार्यों ने उपदेश दिए हैं। इसलिए जो बात एक समय के लिए बहुत उपयोगी एवं आवश्यक थी, वह दूसरे समय में अनुचित, अनावश्यक हो सकती है। जाड़े के दिनों में पहने जाने वाले गरम ऊनी कपड़े गरमी में हानिकारक हैं, इसी प्रकार गरमी की हलकी पोशाक को ही जाड़े के दिनों में पहने रहना निमोनिया को निमंत्रण देना है। अपने समय में जो पोशाक आवश्यक होती है, वही काल और परिस्थिति बदल जाने पर त्याज्य हो जाती है।

अग्नि का आविष्कार होने पर आदिकाल में मनुष्य इस दैवीतत्त्व को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ, उसने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अग्नि को घृत, मेवा, मिष्टान्न, पकवान, सुगंधित वनस्पतियों का भोजन कराने का विधान, यज्ञ आरंभ किया। समय के साथ उस पवित्र यज्ञ व्यवस्था में विकार आया और गौ, अश्व, नर आदि का वध करके हवन किया जाने लगा। इस विकृति को रोकने के लिए गौतम बुद्ध ने यज्ञों का खंडन किया। कालांतर में बौद्धों में भी विकार आए और उनका शंकराचार्य को खंडन करना पड़ा। शंकर मतानुयायी भी धीरे-धीरे शुष्क वेदांती मात्र रह गए, तब प्रेम और भावना को जाग्रत करने के लिए भक्तिमार्गी संतों ने वेदांत का विरोध करके भक्ति की ध्वजा फहराई। भक्ति में अंधविश्वास आ गया तो स्वामी दयानंद जी ने उसका भी खंडन किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक आचार्य दूसरे का खंडन करता चला आ रहा है। जैसे एक समय का स्वादिष्ट भोजन कालांतर में विष्ठा बन जाता है, वैसे ही एक समय की व्यवस्था कालांतर में जीर्णशीर्ण हो जाती है और उसका पुनरुद्धार करना पड़ता है। अपने-अपने समय का प्रत्येक शास्त्रकार सच्चा है,पर कालांतर में उनमें सुधार होना अवश्यंभावी है। देश, काल का ध्यान न रखते हुए जब हम शास्त्रों को समकालीन मानकर चलते हैं, तब उनमें विरोध दिखाई पड़ता है, किंतु कालभेद और परिस्थिति भेद को ध्यान में रखते हैं तो सभी व्यवस्थाएँ सही मालूम पड़ती हैं।

केवल विवेक ही हमें बता सकता है कि आज की स्थिति में क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य? यह हो सकता है कि अपरिष्कृत विवेक कुछ भूल कर जाए और उसका निर्णय पूर्ण तथा निर्दोष न हो, फिर भी यदि निष्पक्ष विवेक को जाग्रत रखा जाए तो बहुत शीघ्र ही वह भूल प्रतीत हो जाएगी और सच्चा मार्ग मिल जाएगा। यह डर कि हमारा विवेक गलत होगा तो गलत निर्णय पर पहुँच जाएँगे, उचित नहीं, क्योंकि विवेक के अतिरिक्त और कोई मार्ग सत्यासत्य के निर्णय का है ही नहीं। यदि किसी शास्त्र, संप्रदाय, महापुरुष के मत का अनुकरण किया जाए तो भी अनेक शास्त्रों, संप्रदायों, महापुरुषों में से एक को अपना पथप्रदर्शक चुनने का काम विवेक पर ही पड़ेगा। विवेक का अनुगमन कभी भी हानिकारक नहीं होता, क्योंकि बुद्धि का पवित्र, निस्स्वार्थ, सात्त्विक भाग होने के कारण विवेक द्वारा वही निर्णय किया जाता रहेगा, जो आज की हमारी मनोभूमि की अपेक्षा श्रेष्ठ हो। उसका अनुगमन करने से मनोभूमि दिन-दिन अधिक पवित्र एवं विकसित होती जाएगी, तदनुसार हमारा विवेक भी अधिक सूक्ष्म होता जाएगा। यह उभयपक्षीय उन्नति धीरे-धीरे आत्मबल बढ़ाती चलेगी और क्रमशः हम सत्य के निकट पहुँचते जाएँगे। इसी मार्ग पर चलते-चलते एक दिन पूर्ण सत्य की प्राप्ति हो जाएगी।

अनेक परम्पराएँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज ऐसे प्रचलित हैं, जो किसी समय भले ही उपयुक्त रहे हों, पर आज तो वे सर्वथा अनुपयोगी एवं हानिकारक ही हैं। ऐसी प्रथाओं एवं मान्यताओं के बारे में ऐसा न सोचना चाहिए कि 'हमारे पूर्वज इन्हें अपनाते रहे हैं तो अवश्य इनका भी कोई महत्त्व होगा, इसलिए हम भी इन्हें अपनाए रहें।' हमें हर बात को वर्तमानकाल की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही निर्णय करना चाहिए।

भारतीय दर्शनशास्त्र का सदा से यह आदेश रहा है कि व्यक्तियों और विचारों को आपस में संबद्ध मत करो। संभव है कि कोई उत्तम

चरित्र का व्यक्ति भ्रांत हो और उसके विचार अनुपयुक्त हों, इसी प्रकार यह भी संभव है कि कोई हीन-चरित्र का व्यक्ति सारगर्भित बात कहता हो। उत्तम चरित्र के मनुष्य का व्यक्तिगत सम्मान करने में कभी संकोच न करना चाहिए, किंतु उस सम्मान का अर्थ यह नहीं है कि उसके विचारों को स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हों। यहाँ विवेक ही प्रधान है। भगवान बुद्ध के उत्तम चरित्र और महान तपश्चर्या से श्रद्धान्वित होकर हिंदू जाति ने उन्हें सर्वोपरि सम्मान की 'अवतार' उपाधि से विभूषित किया है। इससे बड़ा सम्मान और कृतज्ञता ज्ञापन का तरीका हिंदू जाति के पास और कोई है नहीं। इतना होते हुए भी बौद्ध सिद्धांतों को स्वीकार नहीं किया गया। ईश्वर पर अनास्था, शून्यवाद, गृहत्याग में मोक्ष, यज्ञनिषेध आदि बुद्ध की शिक्षाओं को हिंदू जाति अस्वीकार ही नहीं करती, वरन उनका कटु विरोध भी करती है। चार्वाक ऋषि हुए हैं। उनका नास्तिक दर्शन भी अन्य शास्त्रों की तरह ही आदरणीय है, परंतु यह आवश्यक नहीं कि उनके प्रति आदर बुद्धि रखने वालों को वे विचार भी स्वीकार हों। गांधी और सुभाष दोनों के प्रति आंतरिक आदर रखते हुए भी यह हमारे विवेक के ऊपर निर्भर रहेगा कि हिंसा का सिद्धांत माना जाए या अहिंसा का।

संसार में अनेक धर्म, संप्रदाय, मत, मजहब, सिद्धांत, शास्त्र, संत, महापुरुष, नेता और विचारक हैं। उनकी अपने-अपने ढंग की अनेक मान्यताएँ हैं। इनमें से अपने लिए आज किसका, किस अंश में, किस प्रकार अनुसरण करना चाहिए, यह निर्णय करना हमारे विवेक के ऊपर है। हमारा निर्णय जिसके पक्ष में है, उसके अतिरिक्त भी अन्य धर्मों या महापुरुषों के लिए घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है। उनका उपदेश आज भले ही हमारे लिए अनुकूल न हो, पर अपनी समझ से अपनी परिस्थितियों में उनने भी शुभ उद्देश्य से अपना मत निर्धारित किया था। उनका उद्देश्य पवित्र था, इसलिए वे स्वभावतः हमारे आदर के अधिकारी हो जाते हैं।

विवेक की कसौटी पर कसकर हम बुराई-भलाई की हर जगह परख कर सकते हैं। किसी देश, जाति या मनुष्य के कुछ बुरे काम देखकर उसे पूर्णतया बुरा मान लेना ठीक नहीं। जिस समुदाय में कुछ लोग दुष्ट या प्रतिपक्षी हैं, सभी लोगों को वैसा मान लेना ठीक नहीं। अमुक जाति बहुत बुरी है, ऐसी मान्यता अनुचित है, क्योंकि न्यूनाधिक संख्या में सभी समुदायों में अच्छे और बुरे होते हैं। विवेक ही हमें यह बता सकता है कि शत्रुओं के बीच भी मित्र हो सकते हैं और मित्रों में भी आस्तीन के साँप होना संभव है।

भले और बुरे की, हानि और लाभ की, मित्र और शत्रु की, सच्चे और झूठे की पहचान केवल विवेक ही करा सकता है। आकर्षणों, प्रलोभनों, तृष्णाओं, विकारों, भ्रांतियों, खतरों से सावधान करके हमें पतन के गहरे गड्ढे में गिरने से बचाने की शक्ति केवल विवेक में ही है। विवेक हमारा सच्चा मित्र है। वह भूलें सुधारता है, मार्ग सुधारता है, उलझनें सुलझाता है, खतरे से बचाता है और सफलता की ओर अग्रसर करता है। ऐसे मित्र की आवश्यकता समझना, उससे प्रेम करना और उसे अधिक से अधिक आदर के साथ समीप रखना—यह हमारे लिए सब प्रकार से कल्याणकारक हो सकता है।

गायत्री के 'धियो' शब्द का आदेश है कि हम विवेकवान बनें। विवेक को अपनावें, विवेक की कसौटी पर कसकर अपने विचार और कर्मों का निर्धारण करें। इस शिक्षा को स्वीकार करना, मानो अपनी जीवन दिशाओं को शीतल, शांतिदायक, मलय-मारुत के लिए उन्मुक्त कर देना है।

❐

(यो नः)

आत्मसंयम और परमार्थ का मार्ग

यो नो वास्ति तु शक्तिसाधनचयो न्यूनाधिकश्चाथवा,
भागं न्यूनतमं हि तस्य विदधेमात्मप्रसादाय च।
यत्पश्चादवशिष्टभागमखिलं त्यक्त्वा फलाशा हृदि,
तद्धीनेष्वभिलाषवत्सु वितरेद् यो शक्तिहीनाः स्वयम्॥

अर्थ—हमारी जो भी शक्तियाँ एवं साधन हैं, वे स्थूल हों अथवा अधिक हों, उनके न्यून से न्यून भाग को अपनी आवश्यकता के लिए प्रयोग में लावें और शेष को निस्स्वार्थ भाव से उन्हें अशक्त शक्तियों में बाँट दें।

राजा किसी अफसर से प्रसन्न होता है तो वह उसे अपने कार्यों का एक अंश पूरा करने के लिए नियुक्त कर देता है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को सुखी, समृद्ध, समुन्नत, सुरक्षित करने की बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवस्था करे। अपने इस उत्तरदायित्व को वह कुछ लोगों को सौंप देता है, जिन्हें वह सुयोग्य,कर्त्तव्यनिष्ठ, बुद्धिमान एवं विश्वसनीय समझता है। वे व्यक्ति अफसर कहलाते हैं। अफसरों के पास राजशक्ति का महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट और कलक्टर के हाथ में काफी शक्ति होती है। सेना, पुलिस, हथियार, कोश एवं अधिकार का उपयोग करने की राजसत्ता उसके हाथ में रहती है। राजा उन अफसरों को इतनी शक्तियों का स्वामी इसलिए बनाता है कि वे प्रजा के हित में उनका उपयोग करें। उनके व्यक्तिगत लाभ के लिए तो उन्हें थोड़ा सा वेतन मिलता है तथा उतने ही अधिकार मिलते हैं, जितने कि प्रजा के साधारण व्यक्तियों को प्राप्त हैं।

कोई अफसर यदि राजभक्ति का उपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करने लगे तो वह कर्त्तव्यच्युत एवं अपराधी ठहराया जाएगा। पुलिस कप्तान यदि अपनी पुलिस को लेकर नगर की घनी बस्ती पर

चढ़ दौड़े और लूट, अपहरण, बलात्कार, दमन, गबन आदि करे। जज अपने दुश्मनों को फाँसी चढ़वा दे या रिश्वत ले-लेकर डाकुओं को बरी कर दे तो कप्तान, कलक्टर, जज अपने पद पर नहीं रह सकते। राजा उन पर विश्वासघात का, कर्त्तव्यच्युत होने का, शक्ति के दुरुपयोग का, अपराध लगाकर पकड़कर उन्हें कठोर दंड देगा। कारण स्पष्ट है कि शक्ति उन्हें प्रजा के हित में उपयोग करने के लिए, एक अमानत की तरह दी गई थी। वे राजशक्ति के केवल ट्रस्टी मात्र थे। राजा ने उन्हें इतना बड़ा अधिकार दिया था, इतना विश्वासपात्र समझा था, इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित किया था, यही क्या कम गौरव की बात थी। इतने में ही उन्हें सम्मान, सुख और संतोष अनुभव करना चाहिए था। अमानत दी हुई शक्ति व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने का इन अफसरों का कोई अधिकार न था। अमानत में खयानत करने वाला कठोर दंड का, निंदा का, घृणा का पात्र ठहराया जाएगा।

परमात्मा के सभी पुत्र हैं। सभी उसे समान रूप से प्यारे हैं। पर वह जिन्हें अधिक ईमानदार और विश्वसनीय समझता है,उन्हें अपनी राजशक्ति का एक भाग इसलिए सौंप देता है कि वे उसके ईश्वरीय उद्देश्यों की पूर्ति में हाथ बटाएँ। धन, स्वास्थ्य, बुद्धि, चतुरता, शिल्प, योग्यता, मनोबल, नेतृत्व, भाषण, लेखन आदि की शक्तियाँ जिन्हें अधिक मात्रा में दी गई हैं, वे उन्हें दैवी प्रयोजन के लिए दी गई हैं। जो अधिकार साधारण प्रजा को नहीं हैं, वे अधिकार कलक्टर को देकर राजा कोई पक्षपात नहीं करता, वरन अधिकार योग्य से अधिक काम लेने की नीति बरतता है। परमेश्वर भी कुछ थोड़े से आदमियों को अधिक संपन्न बनाकर अपने अन्य लोगों के साथ अन्याय नहीं करता। उसे अपने सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। उसने सभी को समान रूप से विकसित होने के अवसर दिए हैं। वह पक्षपात और अन्याय करे तो फिर समदर्शी, न्यायशील और दयालु कैसे कहा जा सकेगा?

भोजन, वस्त्र, रहने का घर तथा जीवनयापन की उचित आवश्यकता पूरी करने वाली वस्तुएँ, यह प्रत्येक व्यक्ति का वेतन है। आलसी, अकर्मण्य, ऊटपटांग करने वाले अविचारी हैं, उनका वेतन कट जाता है और उन्हें किन्हीं अंशों में अभावग्रस्त रहना पड़ता है। जो परिश्रमी, पुरुषार्थी, सीधे मार्ग पर चलने वाले हैं, वे अपना उचित वेतन यथासमय पाते रहते हैं। इस वेतन के अतिरिक्त जिसके पास जो भी शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक एवं औपचारिक शक्तियाँ हैं, वे केवल इस उद्देश्य के लिए हैं कि उनके द्वारा अपने नीचे गिरे हुए लोगों को ऊपर उठाने में लगाया जाए। हर समृद्ध व्यक्ति को ईश्वर ने यह कर्त्तव्य भी सौंपा है कि अपने से जो लोग कमजोर हैं, उनको ऊँचा उठाने में इन शक्तियों को व्यय किया जाए। यदि कोई व्यक्ति सुशिक्षित है तो उसका फर्ज है कि अशिक्षितों में शिक्षा का प्रसार करे। कोई व्यक्ति बलवान है, तो उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्बलों को बलवान बनाने का नेतृत्व करे और सताने वालों को रोके। धनवान के पास वह धन इसलिए अमानत रखा गया है कि उससे विद्या, बुद्धि, व्यवसाय, संगठन, सद्ज्ञान आदि का इस प्रकार आयोजन करे कि उससे पिछड़े हुए लोग अपनी चतुर्मुखी उन्नति कर सकें।

पिता के अतिरिक्त बड़े बेटे का कर्त्तव्य भी कुटुंब के स्त्री, बच्चों के प्रति होता है। पिता अपने छोटे बच्चों की सुव्यवस्था एवं उन्नति चाहता है। बड़ा बेटा कुछ समर्थ हो जाता है तो वह अनुभव करता है कि पिता के उत्तरदायित्व में हाथ बँटाना मेरा फर्ज है। इसलिए वह अपने से छोटे भाई-बहनों के प्रति कर्त्तव्यपालन करता है। यदि वह इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करता और ब्याह होते ही बहू को लेकर अलग हो जाता है, अपनी कमाई से आप गुलछर्रे उड़ाता है और छोटे भाई-बहनों की सहायता नहीं करता तो सत्पुरुषों की दृष्टि में वह क्षुद्र, स्वार्थी, कृतघ्न एवं घृणास्पद ठहरता है तथा धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से उसे अपराधी माना जाता है। यह ठीक है

कि कानून में उसके इस अपराध के लिए कोई सजा नहीं रखी गई है, पर इससे क्या वह ईश्वरीय अदालत में दंड से बच सकता है। जिसके पास धन की भरी तिजोरियाँ हैं, वह सेठ किसी को कानी कौड़ी न दे और खुद ही अनाप-शनाप गुलछर्रे उड़ावे, कोई वकील, डॉक्टर, कलाकार, वैज्ञानिक, शिल्पी अपनी योग्यता से अपना ही स्वार्थ साधन करे, किसी का राई के बराबर भी उपकार न करे तो कानूनन उसे इसके लिए विवश नहीं किया जा सकता, उस स्वार्थपरता के लिए उसे जेल, फाँसी आदि भी नहीं दी जा सकती। पर इतना निश्चित है कि मनुष्य के बनाए हुए लँगड़े, लूले कानूनों के गिरफ्त में न आने पर भी वह चोर है, पापी, अपराधी है। ईश्वरीय अदालत में उसे वैसे ही कर्त्तव्यभ्रष्ट ठहराया जाएगा,जैसा कि राजसत्ता का दुरुपयोग करने वाले पूर्वकथित कलक्टर, कप्तान, जज आदि राजा के द्वारा अपराधी ठहराए जाते हैं।

जबकि अधिकांश लोगों को पेट भरने और तन ढकने की व्यवस्था में ही जीवन का सारा समय लगाना पड़ता है और कई दृष्टियों से पिछड़ा हुआ रहना पड़ता है, तब किसी समृद्ध आदमी के लिए गर्व करने का, सुखी होने का, संतोष करने का, ईश्वर को धन्यवाद देने का यह पर्याप्त कारण है कि उसकी जीवन की आवश्यकताएँ आसानी से पूरी हो जाती हैं और उसे ऐसी योग्यताएँ प्राप्त हैं,जो असंख्य मनुष्यों में नहीं हैं। सुसंपन्न व्यक्ति को इतने से ही संतोष और आनंद अनुभव करना चाहिए और भविष्य में और भी उच्चस्थिति प्राप्त करने के लिए दूरदर्शितापूर्वक अपनी शक्तियों को लोकहित में लगाना चाहिए। आज वह अवसर है कि वह रोटी की समस्या को आसानी से हल करके परमार्थ भी कर सकता है। ऐसी स्थिति पूर्वकृत पुण्यफल से ही प्राप्त हुई है। यदि पिछले पुण्यफल भुगत जाते हैं और आगे के लिए उपार्जन न किया जाए तो निश्चित है कि थोड़े दिनों में वह संपन्नता समाप्त हो जाएगी, उसे असंख्य निर्धन व्यक्तियों की भाँति ऐसा अभावग्रस्त जीवन

जीने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिसमें परमार्थ के लिए अवसर पाना बड़ा कठिन काम होगा।

अधिक धन जोड़ना, अधिक भोग भोगना—यह दो ही कार्यक्रम आजकल सुसंपन्न व्यक्तियों में देखे जाते हैं। यह मूर्खता का मार्ग है। गायत्री का 'यो नः' शब्द कहता है कि इस खतरनाक मार्ग पर चलना किसी भी प्रकार बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं है। विद्रोही, उद्दंड, उच्छृंखल, मदोन्मत्त अफसर कुछ समय के लिए अपनी हेकड़ी के नशे में चूर होकर अट्टहास कर सकते हैं, पर कुछ ही क्षण बाद उन्हें अपने अविवेक का कठोर मूल्य चुकाना पड़ता है। समृद्ध व्यक्ति यदि आज अपने धन, बुद्धि, विद्या, वैभव, ऐश्वर्य पर इतराते हैं और उनका उपयोग केवल मात्र 'अधिक संचय और अधिक जोड़ने' में ही करना चाहते हैं तो भले ही आज उनका रास्ता कोई न रोके, वे अट्टहास करते हुए अपनी इस गतिविधि को जारी रखें, पर वह दिन दूर नहीं, जब उन्हें अपनी मदहोशी का पश्चात्ताप मर्मांतक वेदनाओं और पीड़ाओं के साथ करना पड़ेगा। इतना अलभ्य अवसर पाकर भी मनुष्य शरीर और सुसंपन्नता का स्वर्णिम सुयोग, उपलब्ध करके भी जो उसका सदुपयोग नहीं कर सके, आत्मकल्याण का, पुण्यसंचय का साधन नहीं कर सके, वे अभागे इसी योग्य हैं कि अनंतकाल तक नारकीय यातनाओं में पड़े रहें। नैतिक अपराधों में सजा पाए हुए, बरखास्त किए हुए नौकर को पुनः सरकारी नौकरी में नहीं लिया जाता, जो लोग आज अपनी सुसंपन्नता का दुरुपयोग कर रहे हैं, वे भविष्य में फिर उसी पद पर नियुक्त किए जाएँगे, इसकी आशा कैसे की जा सकती है?

गायत्री हर व्यक्ति को आगाह करती है कि ऐसी बुरी परिस्थिति में, कोई आत्मकल्याण का पथिक अपने को न फँसा ले। 'यो नः' शब्द कहता है कि हम 'जोड़ने और भोगने' की मृगतृष्णा में न भटकें। अपनी आवश्यकताएँ कम से कम रखें। उन्हें पूरा करने के पश्चात बची हुई शक्ति का अधिक से अधिक भाग अपने से निर्बल, पिछड़े हुए,

अविकसित, निर्धन, अल्पबुद्धि, अशिक्षित लोगों को अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा उठाने में खरच करें। यह ईश्वरीय कार्य में हाथ बँटाना और अपनी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता एवं कर्त्तव्यपरायणता का प्रमाण देना है। हर आदमी किसी न किसी से ऊँचा है, सुसंपन्न है। इसलिए उसे यह बहाना न ढूँढ़ना चाहिए कि मैं अमुक के बराबर धनी या शक्तिवान हो जाऊँगा, तब परमार्थ करूँगा। वरन यह सोचना चाहिए कि आज की स्थिति में किन लोगों की अपेक्षा में किस दृष्टि से अधिक संपन्न हूँ? इस दृष्टि से अपने में अपेक्षाकृत अनेकों संपन्नताएँ प्रतीत होंगी और उन्हीं का सदुपयोग कर लेने का अवसर मिलेगा।

हमें अवसरवादी होना चाहिए। अवसर से लाभ उठाने में चूक न करनी चाहिए। प्राप्त शक्तियों को अपने लिए मितव्ययता के साथ खरच करके उन्हें दूसरों के लिए बचाना चाहिए। यह 'आत्मसंयम और परमार्थ' का दैवी मार्ग हमें 'यो नः' शब्द द्वारा बताया गया है। इस पर चलने वाला गायत्री उपासक जीवनलक्ष्य को प्राप्त करके रहता है।

❒

प्रोत्साहन की आवश्यकता

प्रचोदयात् स्वं त्वितरांश्च मानवान्,
नरः प्रयाणाय च सत्यवर्त्मनि।
कृतं हि कर्मखिलमित्थमंगिना,
वदन्ति धर्मं इति हि विपश्चितः॥

अर्थ—मनुष्य अपने आप को तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे। इस प्रकार किए हुए सब प्रयत्न धर्म कहे जाते हैं।

मानव प्राणी को ईश्वरप्रदत्त अनेक दिव्य शक्तियाँ ऐसी प्राप्त हैं, जिनका वह समुचित उपयोग करे तो अनंत ऐश्वर्य का स्वामी बनने में उसे कठिनाई न हो। अनेक विशेषताओं से विभूषित शरीर और मस्तिष्क की शक्ति एवं सामर्थ्य इतनी अधिक है कि यदि उसका समुचित उपयोग हो जाए तो तुच्छ मनुष्य को महान बनने में कुछ भी बाधा न हो। सीधे रास्ते पर निरंतर चलता रहने वाला कछुआ, अव्यवस्थित चाल चलने वाले खरगोश से आगे निकल जाता है। देखा जाता है कि कितने ही मनुष्य बड़ी विलक्षण योग्यताओं के होते हुए भी कुछ महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर पाते और कितने ही व्यक्ति साधारण शरीर, सामान्य मस्तिष्क और स्वल्प-साधन होते हुए भी अच्छी उन्नति कर जाते हैं।

ऐसा क्यों होता है ? इस पर विचार करने से पता चलता है कि जीवन में एक ऐसा दैवी तत्त्व होता है, जिसके न्यूनाधिक होने पर उन्नति-अवनति बहुत कुछ निर्भर रहती है। वह तत्त्व जिसमें जितना अधिक होगा, वह उतनी ही शीघ्रतापूर्वक उतनी ही अधिक मात्रा में उन्नति कर सकेगा। इस तत्त्व का नाम है—'प्रेरणा'। दूसरे शब्दों में इसी को लगन, धुन, उत्साह, स्फूर्ति भी कहते हैं। जिसको किसी काम की लगन लगी हुई है, तीव्र इच्छा एवं आकांक्षा है, जिसके प्राप्त करने की

बड़ी लालसा है, जो लक्ष्य बन गया है, जिसे प्राप्त किए बिना और कुछ सुहाता नहीं, ऐसी प्रबल, प्रचंड, अदम्य अभिलाषा के पीछे एक ऐसी शक्ति होती है कि वह मनुष्य को चुप बैठने नहीं देती, उसे अभीष्ट दिशा में सोचने, प्रयत्न करने एवं लगे रहने के लिए प्रेरित करती रहती है। यह प्रेरणा शक्ति ही वह बल है, जिसका जितना अंश जिस मनुष्य में होगा, वह उतनी ही तेजी से आगे बढ़ेगा।

आलसी, निकम्मे, ठलुआ, हतोत्साह, निराशावादी, भाग्य-भाग्य रटने वाले, अपनी हीन स्थिति का दोष दूसरों पर मढ़ते रहने वाले पुरुषों में एकमात्र प्रेरणा शक्ति की कमी होती है। वैसे उनका शरीर और मस्तिष्क ठीक होता है, पर जैसे तेल न होने पर हजारों रुपये की कीमती मोटर बेकार जगह घेरे खड़ी रहती है, वैसे ही प्रेरणा शक्ति की न्यूनता वाले व्यक्ति अपने दुर्दिन का रोना रोते हुए दुःख-दारिद्र्य के दिन काटते रहते हैं। वे पुरुषार्थ, परिश्रम, व्यवस्था, भूल-सुधार, नवीन प्रयत्न में उत्साह न दिखाकर किन्हीं पीर-मुरीद, देव-दानव, भूत-पलीत, जंत्र-तंत्र के चक्कर में इस दुर्बुद्धि से प्रेरित होकर टक्करें खाते रहते हैं कि हमें स्वयं जीवन-संघर्ष में कठोर पराक्रम करके विजय प्राप्त करने का कष्ट न उठाना पड़े और इस कार्य को कोई देव-दानव चुपचाप हमारे लिए करके रख जाए। ऐसे लोगों में से कई व्यक्ति जीवन-संग्राम के कठोर कार्यक्रम देखकर डर के मारे काँपने लगते हैं और मैदान छोड़कर कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के अस्त्र-शस्त्र पटककर भाग खड़े होते हैं। ऐसे लोगों की एक भारी भीड़ साधु नामधारी भिक्षुओं में दिखाई पड़ती है। घर-गृहस्थी में भी ऐसे अनेक लोग मौजूद हैं, जो अपने जीवन की लाश का बोझ जैसे-तैसे ढोते रहते हैं। उनकी शिकायतें, मुसीबतें, असफलताएँ सुनने कोई बैठे तो उनका ओर-छोर ही न आवेगा।

'प्रेरणा' एक जादू की छड़ी है, यह बिजली है। सफलता और सौभाग्य की कुंजी है। उन्नति की सारी शक्ति उसमें छिपी हुई है। जिस

ओर मनुष्य की लगन लग जाए, उस ओर की कठिनाइयों का जंजाल थोड़े ही समय में साफ हो जाता है। मूर्ख को बुद्धिमान, बीमार को पहलवान, निर्धन को धनी, अभागे को सौभाग्यवान, तुच्छ को महान, गुणहीन को गुणवान, पतित को समुन्नत बनाने की सामर्थ्य 'प्रेरणा' में ही है। जिस दशा में मनुष्य पूरी स्फूर्ति, अभिलाषा, दृढ़ता, लगन और बुद्धिमत्ता के साथ चल पड़े तो उस दिशा में सफलता प्राप्त करने से उसे कोई रोक नहीं सकता। जब बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित और सोई हुई शक्तियाँ जाग्रत होकर दृढ़तापूर्वक अग्रगामी होती हैं तो पर्वत के समान कठिन कार्यों को रेत के समान तुच्छ बना देती हैं। शास्त्रकार ने कहा है—मनस्वी के लिए इस संसार में असंभव कुछ भी नहीं है।

गायत्री मंत्र में इस महाशक्तिशाली जीवन-तत्त्व 'प्रेरणा' का रहस्य प्रकट किया गया है। इस मंत्र में भगवान से धन, वैभव, सुख, स्त्री, पुत्र, मकान, मोटर, विद्या, रूप आदि कुछ नहीं माँगा गया है। इन सब बातों को यहाँ तक कि अमृत, कल्पवृक्ष और पारस को भी छोड़कर केवल यह प्रार्थना की गई है, कि हे भगवान! आप हमें प्रेरणा दीजिए। हमारी बुद्धि को प्रेरित कीजिए। जब बुद्धि में प्रेरणा उत्पन्न हो गई तो सारे धन-वैभव पाँवों तले स्वयं ही लोटेंगे। यदि प्रेरणा नहीं है, तो कुबेर का खजाना पाकर भी आलसी लोग उसे गँवा देंगे। किसी से तेल, लकड़ी, आटा, सुई, साबुन, लोटा, टोपी, पुस्तक आदि दर्जनों छोटी-छोटी चीजें माँगने की अपेक्षा यदि एक सेर सोना माँग लिया जाए तो वह अधिक उचित होगा। उस सोने से यह सारी चीजें आसानी से खरीदी जा सकती हैं। भगवान यदि हमारी मलिनता, सुस्ती, काहिली हटाकर हमें प्रेरणाशील बना दे तो इससे बड़ी संपत्ति भला और क्या हो सकती है ? इसलिए गायत्री के 'प्रचोदयात्' शब्द में एकमात्र सद्बुद्धि को प्रेरित करने की याचना परमात्मा से की गई है।

आत्मनिरीक्षण करके हमें सूक्ष्म दृष्टि से यह विचार करना चाहिए कि कहीं हमारी प्रेरणा शक्ति निर्बल तो नहीं पड़ गई है। आशा,

उत्साह, स्फूर्ति, लगन, कर्त्तव्यपरायणता, श्रमशीलता, चित्त की एकाग्रता में कमी तो नहीं आ गई है। इस क्षति की पूर्ति करने के लिए हमें प्रयत्नपूर्वक जुट जाना चाहिए, अपने स्वभाव में से ढीलपोल को हटाकर उसके स्थान पर चुस्ती को प्रतिष्ठित करना चाहिए।

जो त्रुटियाँ, न्यूनताएँ अपने में हों उनके निवारण के लिए आत्म-ताड़ना, पश्चात्ताप का दुःख जितना अधिक होगा, उतनी सुधार की प्रेरक शक्ति अधिक उत्पन्न होगी, बशर्ते कि हम निराश होकर हाथ-पाँव न फुला बैठें। भविष्य में हमें किस स्थिति पर पहुँचना है, उसके स्पष्ट कल्पनाचित्र हमारे मनःक्षेत्र में रहने चाहिए और उस स्थिति को शीघ्र प्राप्त करने के लिए एक ऐसी तड़पन, एक ऐसी हूक भीतर ही भीतर उठती रहनी चाहिए, जो हमारे लिए प्रेरणामयी शक्ति के भंडार का काम करे और आगे बढ़ने का प्रोत्साहन बराबर देती रहे। यदि हमारे पास प्रेरणा बल मौजूद है तो यह निश्चय है कि सफलता पाँवों तले लोटने को विवश होगी।

दूसरे लोग जो निम्न स्थिति में, अधोगति में पड़े हुए हैं, उन्हें तभी ऊँचा उठाया जा सकता है, जब वे स्वयं भी अपने पैरों पर खड़े हों। केवल दूसरों के दान, सहायता या भरोसे पर कोई गिरा हुआ आदमी अपना उद्धार नहीं कर सकता। निर्बलों को, गिरे हुओं को, उठ खड़े होने के लिए, जहाँ परिस्थितियाँ एवं साधनों की आवश्यकता है, वहाँ सबसे अधिक आवश्यकता प्रेरणा की है। यदि उनमें अपनी वर्तमान स्थिति पर तीव्र असंतोष पैदा कर दिया जाए और उचित स्थिति के लिए तड़पन आंरभ हो जाए तो उनका दुर्दिन अधिक समय नहीं ठहर सकता। इसलिए दूसरों की सबसे बड़ी सेवा उन्हें प्रेरक विचारधारा देकर ही हो सकती है।

गायत्री का 'प्रचोदयात्' शब्द कहता है कि प्राणधारियों में प्राण की, प्रेरणा की, जीवन की अधिक मात्रा होनी चाहिए। जो लोग आलसी, काहिली, निराशा, हतोत्साह, परावलंबी, कायर, भाग्यवादी

बने हुए हैं, जिनने आत्मगौरव और आत्मविश्वास खो दिया है और इसी कारण उनका सौभाग्य सूर्य अस्त हो रहा है। ऐसे दीन-दुखी बने हुए लोगों के लिए सबसे बड़ी सेवा और सहायता यह हो सकती है कि उनके सम्मुख ऐसे विचार, तर्क, उपदेश, उदाहरण उपस्थित किए जाएँ जिनसे प्रभावित होकर वे प्रोत्साहित हों, अपनी शक्तियों को समझें और उस मार्ग पर चल पड़ें जो उनको आत्मनिर्माण की मंजिलें पार करावे। भिक्षुक को एक रुपया देने की बजाय उसे मजूरी करने के लिए प्रोत्साहित, तत्पर और नियोजित कर दिया जाए तो निश्चय ही यह उसकी अधिक अच्छी सेवा कही जा सकती है।

आप किसी को निरुत्साहित मत किया कीजिए, किसी को ऐसी बात मत कहा कीजिए जिससे वह आत्मविश्वास खो बैठे और निराशा के गर्त में गिर जाए। वरन आगे बढ़ने में हर एक को प्रोत्साहित किया कीजिए। उसके गुणों की, सफलताओं की, योग्यताओं की प्रशंसा किया कीजिए तथा आशाजनक भविष्य की योजनाएँ उपस्थित किया कीजिए। किसी की भूलों, दोषों और त्रुटियों को बताना एवं सुधारने का कार्यक्रम उपस्थित करना भी आवश्यक है, पर यह कार्य इस प्रकार होना चाहिए जिससे वह सुधार को कष्टसाध्य या असंभव नहीं वरन बहुत ही सरल समझे।

ऐसा ज्ञानदान देना जिससे मनुष्य के विचार ऊँचे उठते हों, आत्मा को सन्मार्ग की ओर प्रोत्साहन मिलता हो सबसे बड़ा दान है। यह कार्य हम उत्तम पुस्तकों द्वारा, वाणी द्वारा, लेखनी द्वारा, चित्रों द्वारा, जिस प्रकार संभव हो करें। हम स्वयं आगे बढ़ें तथा दूसरों को बढ़ावें। अपने को प्राणवान बनावें, दूसरों में प्राण संचार करें। चूँकि प्रेरणा ही भौतिक और आत्मिक सुखों की जननी है। इसलिए इस महाशक्ति का संसार में प्रत्येक गायत्री भक्त द्वारा अधिकाधिक संवर्द्धन होना चाहिए। यही 'प्रचोदयात्' शब्द का संदेश है।

❒

धर्मशास्त्र का सार—गायत्री

गायत्री महामंत्र एक अगाध समुद्र है, जिसके गर्भ में छिपे हुए रत्नों का पता लगाना सहज कार्य नहीं है। इस महासागर में से सभी ने अपने-अपने प्रज्ञा, योग्यता और आकांक्षा के अनुरूप रत्न निकाले हैं, पर उस अक्षय भंडार का पार किसी को भी नहीं मिला है। गायत्री के एक-एक अक्षर और एक-एक पद में कितना गहरा ज्ञान सन्निहित है, इसका पता लगाते हुए जो जितना ऊँचा विद्वान है, उसे उतनी ही कठिनाई होती है। अनेक ऋषि-महर्षियों ने गायत्री मंत्र के प्रत्येक अक्षर पर विशेष व्याख्याएँ की हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार गायत्री के पदों के अर्थ निकाले हैं। वे अर्थ इतने अधिक, विस्तृत और इतने मर्मपूर्ण हैं कि इन थोड़ी पंक्तियों में उन्हें खुलासा प्रकट नहीं किया जा सकता, इन पंक्तियों में गायत्री मंत्र का सर्वसुलभ अर्थ संक्षिप्त रूप से लिखा जा रहा है, जिससे उसके सामान्य अर्थ को सुविधापूर्वक समझा जा सके। आइए, गायत्री मंत्र के एक-एक शब्द का अर्थ करें:।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

ॐ—ब्रह्म

भूः—प्राणस्वरूप

भुवः—दुःखनाशक

स्वः—सुखस्वरूप

तत्—उस

सवितुः—तेजस्वी, प्रकाशवान

वरेण्यं—श्रेष्ठ

भर्गो—पापनाशक

देवस्य—दिव्य को देने वाले को

धीमहि—धारण करें

धियो—बुद्धि

योः—जो

नः—हमारी

प्रचोदयात्-प्रेरित करे।

अर्थ—उस सुखस्वरूप, दुःखनाशक, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, प्राणस्वरूप ब्रह्म को हम धारण करते हैं, जो हमारी बुद्धि को (सन्मार्ग की ओर) प्रेरणा देता है।

इस अर्थ का विचार करने से उसके अंतर्गत तीन तथ्य प्रकट होते हैं—(१) ईश्वर के दिव्य गुणों का चिंतन, (२) ईश्वर को अपने अंदर धारण करना, (३) सद्बुद्धि की प्रेरणा के लिए प्रार्थना। यह तीनों ही बातें असाधारण महत्त्व की हैं।

मनुष्य जिस दिशा में विचार करता है, जिन वस्तुओं का चिंतन करता है, जिन तत्त्वों पर ध्यान एकाग्र करता है, वह सब धीरे-धीरे उस चिंतन करने वाले की मनोभूमि में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करता जाता है। विचार विज्ञान का विस्तृत विवेचन तो कहीं अन्यत्र करेंगे, पर उसके सारभूत सिद्धांतों को हमें समझ लेना चाहिए कि जिन बातों पर चित्त को एकाग्र करेंगे उसी दिशा में हमारी मानसिक शक्तियाँ प्रकाशित होने लगेंगी और अपनी अद्भुत सामर्थ्यों के द्वारा सूक्ष्म लोकों में से ऐसे-ऐसे साधन, हेतु और उपकरण पकड़ लाती हैं जिनके आधार पर उसी चिंतन की दिशा में मनुष्य को नाना प्रकार की गुप्त-प्रकट, दृश्य-अदृश्य सहायताएँ मिलती हैं और उस मार्ग में सफलताओं का ताँता बँध जाता है। चिंतन का ऐसा ही महत्त्व और माहात्म्य है। ध्यानयोग की महिमा किसी से छिपी नहीं है।

गायत्री मंत्र के प्रथम भाग में ईश्वर के कुछ ऐसे गुणों का चिंतन है जो मानव जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। आनंद, दुःख का नाश, श्रेष्ठता, तेज, निर्भयता एवं आत्मा की सर्वव्यापकता, '**आत्मवत्**

सर्वभूतेषु' की मान्यता पर जितना भी ध्यान एकाग्र किया जाएगा, मस्तिष्क इन तत्त्वों की अपने में वृद्धि करेगा। मन इनकी ओर आकर्षित होगा, अभ्यस्त बनेगा और उसी आधार पर काम करेगा। आत्मा की सच्चिदानंद स्थिति का चिंतन, दुःख, शोक रहित ब्राह्मी स्थिति का चिंतन, श्रेष्ठता, तेजस्विता और निर्मलता का चिंतन, आत्मा की सर्व-व्यापकता का चिंतन यदि गहरी अनुभूति और श्रद्धापूर्वक किया जाए तो आत्मा एक स्वर्गीय दिव्य भाव से ओत-प्रोत हो जाता है। आत्मा इस दिव्य आनंद को विचार क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखती वरन क्रिया में लाकर इसका सुदृढ़ आनंद भोगने की ओर कदम उठाती है।

गायत्री मंत्र के दूसरे भाग में उपरोक्त गुणों वाले तेजपुंज को, परमात्मा को, अपने में धारण करने की प्रतिज्ञा है। इन दिव्य गुणों वाले परमात्मा का केवल चिंतनमात्र किया जाए सो बात नहीं, वरन गायत्री की आत्मा का सुदृढ़ आदेश है कि उस ब्रह्म को, उस दिव्य गुण संपन्न परमात्मा को अपने अंदर धारण करें, उसे अपने रोम-रोम में ओत-प्रोत कर लें, परमात्मा को अपने कण-कण में व्याप्त देखें और ऐसा अनुभव करें कि वह दिव्य गुणों वाला परमात्मा हमारे भीतर-बाहर आच्छादित हो गया है और उन दिव्य गुणों में, उस ईश्वरीय सत्ता में अपना 'अहम्' पूर्ण स्वरूप से निमग्न हो गया है। इस प्रकार की धारणा से जितने समय तक मनुष्य ओत-प्रोत रहेगा, उतने समय तक उसे भूलोक में रहते हुए भी ब्रह्मलोक के आनंद का अनुभव होगा। यह अनुभव इतना गंभीर है कि आगामी जीवन में बाह्य आवरणों में उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। उसमें सात्त्विक तत्त्वों की मंगलमयी अभिवृद्धि न हो ऐसा हो नहीं सकता।

गायत्री मंत्र के तीसरे भाग में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे लिए सद्बुद्धि की प्रेरणा करे। हमें सात्त्विक बुद्धि प्रदान करे। हमारे मस्तिष्क को कुविचारों, कुसंस्कार, नीच वासनाओं से,

दुर्भावनाओं से छुड़ाकर सतोगुणी ऋतंभरा बुद्धि से, विवेक से, सद्ज्ञान से पूर्ण करे।

इस प्रार्थना के अंतर्गत बताया गया है कि प्रथम भाग में बताए हुए दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए, दूसरे भाग में बताई गई ब्रह्म धारणा के लिए, तीसरे भाग में उपाय बता दिया गया है कि अपनी बुद्धि को सात्त्विक बनाओ, आदर्शों को ऊँचा उठाओ, उच्च दार्शनिक विचारधाराओं में रमण करो और अपनी तुच्छ तृष्णा एवं वासनाओं के इशारे पर नाचते रहने वाली कुबुद्धि को मानसलोक में से बहिष्कृत कर दो। जैसे-जैसे बुद्धि का कल्मष दूर होगा वैसे ही वैसे दिव्य गुणसंपन्न परमात्मा के दिव्य अंशों की अपने आप वृद्धि होती जाएगी और उसी अनुपात से लौकिक और पारलौकिक आनंदों की अभिवृद्धि होती जाएगी।

गायत्री मंत्र के प्रार्थना में सन्निहित उपरोक्त तथ्य में ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों हैं। सद्गुणों का चिंतन ज्ञान है, ब्रह्म की धारणा कर्म है और बुद्धि की सात्त्विकता, अभीष्ट की प्राप्ति क्रिया-प्रणाली एवं उपासना है। वेदों की समस्त ऋचाएँ इस तथ्य को सविस्तार प्रकट करने के लिए प्रकट हुई हैं। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना—यह तीनों विषय हैं। गायत्री के बीज में भी इन तीनों का वर्णन व्यावहारिक, संक्षिप्त एवं सर्वांगपूर्ण है। इस तथ्य को, इस बीज को सच्चे हृदय से निष्ठा और श्रद्धा के साथ अंतःकरण में गहरा उतारने का प्रयत्न करना ही गायत्री की उपासना है। इस उपासना से साधक का सब प्रकार कल्याण ही कल्याण है।

परमात्मा की प्रार्थना का सर्वोत्तम मंत्र गायत्री है। उसमें ईश्वर से वह वस्तु माँगी गई है, जो इस संसार में इस जीवन में सर्वोपरि महत्त्व की है। 'बुद्धि की सन्मार्ग की ओर प्रगति' यह इतना बड़ा लाभ है कि इसे प्राप्त करना, ईश्वर की कृपा का प्रत्यक्ष चिह्न माना जा सकता है। इस मंत्र के द्वारा ऋषियों ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि

सबसे बड़ा लाभ हमें इसी की प्राप्ति में मानना चाहिए। गायत्री की प्रतिष्ठा का अर्थ सद्‌बुद्धि की प्रतिष्ठा है। गायत्री का मर्म अपनी बुद्धि को शुद्ध करना, उसमें से दूषित दृष्टि को हटाकर दूरदर्शितापूर्ण दृष्टिकोण की स्थापना करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए परमात्मा की सहायता के निमित्त इस मंत्र में प्रार्थना की गई है।

गायत्री में परमात्मा को जिन गुणों के साथ संबोधित किया है, वे गुण मनुष्य जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। सविता, वरेण्य, भर्ग, देव—इन चार शब्दों में तेजस्वी, प्रतिभावान, शक्तिशाली, श्रेष्ठ, संयमी, सेवाभावी बनने की शिक्षा है। परमात्मा इन गुणों वाला है, यही गुण गायत्री उपासक में आवें, इसलिए उनकी ओर इस मंत्र में संकेत किया गया है। बार-बार इन विश्लेषणों के साथ बार-बार परमात्मा को स्मरण करने से बार-बार इन गुणों की छाया मन पर पड़ती है और एक वैसा ही संस्कार मन पर जमता है। इस प्रकार गायत्री-उपासक श्रेष्ठताओं को अपनाने के लिए प्रस्तुत एवं अग्रसर होता है।

यह तो गायत्री का स्थूल अर्थ है। सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो इन चौबीस अक्षरों में इतने सारगर्भित रहस्य छिपे हुए हैं कि उनके उद्‌घाटन से संसार की समस्त विद्याएँ, कलाएँ, शक्तियाँ एवं संपदाएँ करतलगत हो सकती हैं।

□□

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)